कितना गहरा पानी

राज बुद्धिराजा

मेरी जिन्दगी के सफ़र के साथ लेखन भी कदम से कदम मिलाकर चलता रहा। मैंने अपने आस-पास और दूर-दूर तक बारीकी से देखा और सोचा कि इस देखे हुए को कुछ पन्नों पर उतार दूं। दाल-भात पकाते, कपड़े तहाते, मेहमानों की आवभगत करते कुछ न कुछ ऐसा घटित हो जाता कि क़लम लिखने को बेचैन हो जाती है। इससे पहले भी मैंने कुछ कथा संग्रह अपने पाठकों को सौंपे हैं। प्रस्तुत संग्रह कितना गहरा पानी के भी बहुत से पाठक कद्रदान होगें। पहली कहानी में हारमोनियम बजाने और सुनने वाले की गुफ्तगू हैं, जो मन के गहरे समंदर में डुबती-तिरती रहती हैं। किसी कहानी में प्रौढ़ावस्था का अबोला प्रेम है और किसी में युवावस्था का। किसी में जातिवाद से हटकर एक साथ मिल-बैठने की तमन्ना है। तुमने बताया क्यों नहीं कहानी में उस बालिका की कहानी है, जो संसार छोड़ने तक अपने होठों पर ये नहीं ला सकी कि मैं किसी को पसंद करती हूँ। लंबे अर्से तक दूसरे लोगों के लिए स्वेटर बुनते-बुनते उसकी उंगलियां थरथराने लगती हैं और जमा पूंजी के नाम पर उसके पुराने ट्रंक में से झाड़ू के कुछ तीले, साइकिल की पुरानी डंडियां और किसी किशोर की तस्वीर ही मिलती हैं। उस मौसी ने एक स्वेटर मुझे भी बुनकर दिया था, जो स्वेटर और कोट दोनों का काम करता है, पर वही स्वेटर-और कोट दोनों का काम करता है, पर वही स्वेटर-नुमा कोट उसे मैं ओढ़ा देती हूं, क्योंकि उसने अपने लिए कभी स्वेटर नहीं बुना। जब-जब भी मुझे स्वार्थी मित्रों की कटार लहुलुहान कर देती है, तो मैं बचपन की मौसियों, बुआओं, फुफियों, मामियों और चाचियों की गोद में थोड़ी देर के लिए विश्राम कर लेती हूं, और जब मैं उनकी गोद छोड़ती हूं, तो मेरी आंखों से आबदार मोती झरने लगते हैं। जिन्हें मैं कभी अपनी मलमली ओढ़नी और कभी अपनी क़लम में सहेजने लगती हूं।

—भूमिका में से

कितना गहरा पानी

कितना गहरा पानी

राज बुद्धिराजा

तेज प्रकाशन
23, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

मन के हर सुन्दर रूप को !

अपनी बात

कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति बहुत पहले से रही है, और उसके साथ ही जानने की उत्सुकता भी कि फिर क्या हुआ। कहानी जब राजमहल से बाहर निकल कर पर्वतों, नदियों, मैदानों, मंदिरों-मठों, खेत-खलिहानों और झोपड़ियों में पहुंची, तो ये उत्सुकता थोड़ी कम हो गई। सभी पाठक ये स्वीकार कर लेते हैं कि ऐसा तो होता ही है क्योंकि आज के युग में हर बात अनुत्तरित रह जाती है।

मेरी ज़िन्दगी के सफ़र के साथ लेखन भी कदम से कदम मिलाकर चलता रहा। मैंने अपने आस-पास और दूर-दूर तक बारीकी से देखा और सोचा कि इस देखे हुए को कुछ पन्नों पर उतार दूं। दाल-भात पकाते, कपड़े तहाते, मेहमानों की आवभगत करते कुछ न कुछ ऐसा घटित हो जाता कि क़लम लिखने को बेचैन हो जाती है। इससे पहले भी मैंने कुछ कथा संग्रह अपने पाठकों को सौंपे हैं। प्रस्तुत संग्रह 'कितना गहरा पानी' के भी बहुत से पाठक कद्रदान होंगे। पहली कहानी में हारमोनियम बजाने और सुनने वाले की गुफ्तगू है, जो मन के गहरे समंदर में डूबती-तिरती रहती है। किसी कहानी में प्रौढ़ावस्था का अबोला प्रेम है और किसी में युवावस्था का। किसी कहानी में धार्मिक अत्याचार और किसी में, पूर्वजन्म की प्राण प्रतिष्ठा। किसी में जातिवाद से हटकर एक साथ मिल-बैठने की तमन्ना है। 'तुमने बताया क्यों नहीं' कहानी में उस बालिका की कहानी है, जो संसार छोड़ने तक अपने होठों पर ये नहीं ला सकी कि मैं किसी को पसंद करती हूं। लंबे अर्से तक दूसरे लोगों के लिए स्वेटर बुनते-बुनते उसकी उंगलियां थरथराने लगती हैं और जमा पूंजी के नाम पर उसके पुराने ट्रंक में से झाड़ू के कुछ तीले, साइकिल की पुरानी डंडियां और किसी किशोर की तस्वीर ही मिलती है। उस मौसी ने एक स्वेटर मुझे भी बुनकर दिया था, जो स्वेटर और कोट दोनों का काम करता है, पर वही स्वेटर-नुमा कोट उसे मैं ओढ़ा देती हूं, क्योंकि उसने अपने लिए कभी स्वेटर नहीं बुना। जब-जब भी मुझे स्वार्थी मित्रों की कटार

लहुलुहान कर देती है, तो मैं बचपन की मौसियों, बुआओं, फुफियों, मामियों और चाचियों की गोद में थोड़ी देर के लिए विश्राम कर लेती हूं, और जब मैं उनकी गोद छोड़ती हूं, तो मेरी आंखों से आबदार मोती झरने लगते हैं। जिन्हें मैं कभी अपनी मलमली ओढ़नी और कभी अपनी क़लम में सहेजने लगती हूं।

इस संग्रह में कुल जमा अड़तीस कहानियां हैं। जिनमें मैंने मन के किसी न किसी सुन्दर रूप को उभारने की कोशिश की है। आशा करती हूं कि मेरी सभी कहानियां पाठकों के सुन्दर मन को मोह लेंगी।

इन्हीं शब्दों के साथ।

—राज बुद्धिराजा
'प्राची'
जी-233, प्रीत विहार
दिल्ली-110092

विषय-सूची

1

कितना गहरा पानी

जब-जब भी मैं उदास होती वह किशोर मुझसे कहता—"तुम हारमोनियम बजाओ न, कुछ गाओ न", दहेज में मिले फर्नीचर के नाम पर एकमात्र हारमोनियम उठा लाती और मेरी नरम और मुलायम उंगलियां सप्तम सुरों पर थिरकने लगती और वह टूटी-फूटी छोटी लकड़ियों को हाथ में लेकर ताल देने लगता। मेरा गायन शुरू हो जाता और उसका झूमना।

"ये क्या रंडीखाना बना रखा है।" पहले तो धम्म-धम्म करते पैरों की आवाज और बाद में गरजती आवाज सुनकर मैं हारमोनियम ऐसे छोड़ देती जैसे बिजली के करंट ने छू लिया हो। "अरे नासपीटे, यहां बैठा क्या कर रहा है। कुछ पोथी-पन्ना खोल, कुछ लिख-पढ़। यूं बहू को टुकुर-टुकुर क्यों ताक रहा है।" वह उठकर नीचे चला जाता और मैं चुपचाप अपनी दुनिया में खो जाती। कभी मैं मेंहदी लगे हाथों की लकीरें पढ़ने लगती, कभी चांदी के घुंघरूओं वाले परांदे के तीन लड़ देखने लगती, कभी गोटा-किनारी वाला दुपट्टा, कभी तिल्लेदार जूती, कभी बोसकी की सुत्थड़ और मुझे पंजाब का वह लोकगीत याद आ जाता—"बोसकी दी सुत्थड़ मंगा दे जे तूं मेरी टोर वेखणी।" शादी के बाद न तो किसी ने मेरे लिए सुत्थड़ मंगवाई थी न ही किसी ने मेरी टोर (चाल) देखनी चाही थी। मैं खुद ही अपने नशे में डूबी रहती थी। कैसी अल्हड़ उम्र थी वह। मन करता था अपने खूबसूरत बालों में मेंडियां गूथूं और घुंघरूओं वाले पोंकड़ें (परांदा) लगाऊं। हथेलियों पर लिखी लकीरें कुछ और कहती थीं, मैं कुछ और सुनना चाहती थी। मुझसे बिना पानी के उपलों की राख से पीतल के बर्तन मंजवाये, चमकवाये जाते। मेरी खूबसूरत हथेलियों पर फफोले पड़ जाते और मेरी आंखें मेरे दुपट्टे को भिगो देती। किसी के पास मेरी नरम, खरगोशी हथेलियों को छूने का वक्त नहीं था। ले-दे

कर रिश्ते का वही बावला देवर मेरे पास आ जाता और मुझसे हारमोनियम बजाने के लिए कहता। वह कहता–"तुम कितनी सुंदर हो। कितना अच्छा गाती हो। सुरैया से भी ज्यादा अच्छा गाती हो।" मैं खुश होकर गाने लगती और वह झूमने लगता। फिर वही कर्कश आवाज सुनाई पड़ती–"बंद करो इस रंडीखाने को", तब मुझे इस शब्द का अर्थ मालूम नहीं था। मैं उससे पूछती–"रंडीखाना क्या होता है?" वह कहता–"मुझे मालूम नहीं।" जब इस शब्द की बौछार ने मुझे घायल कर दिया तो उस हारमोनियम को छत से नीचे फेंक दिया।

वह अल्हड़ किशोर उस टूटे-फूटे हारमोनियम को अपने घर ले गया। वह उसे झाड़ता-पोंछता, कभी-कभार सुर छेड़कर गाने की कोशिश करता लेकिन बेसुरे-सुर पर मैं मुस्कुरा देती। वह जब चाहता मेरे यहां आ धमकता और कहता–"तुम्हारे उस रंडीखाने की मैं बहुत सेवा करता हूं।" वह दिन और आज का दिन, पचास बरस हो गये मैंने उस "रंडीखाने" को हाथ भी नहीं लगाया और न ही कभी गाया।

एक दिन उस किशोर ने मुझसे कहा–"मेरी जमकर धुनाई हुई।" मेरी आंखें उसके चेहरे पर ऐसे जा टिकीं कि वहां से उतरने का नाम नहीं लेती। "सभी यही कहते हैं कि तुम पढ़ते क्यों नहीं। पर मैं क्या करूं? पढ़ाई में मेरा मन ही नहीं लगता। अंग्रेजी कुत्ती जबान है। हिसाब सीखने के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं। संस्कृत बहुत मुश्किल है। मेरा जुगराफिया तो एक ही है, वह है अपने घर से तुम्हारे घर का रास्ता।" उस किशारे के नाम के साथ मैं "जी" लगा देती। वह कहता–"'जी' मत लगाया करो नहीं तो मैं भी बाबू जी की तरह गरजने लगूंगा।" मैं चुपचाप उसकी बातें सुनती रहती। कभी-कभार वह घर की रद्दी बेचने के लिए पैदल किशनगंज से घंटाघर जाता। और पैसे दो पैसे बचाकर मेरे लिए अमरूद खरीद लाता और कहता–"लो, अमरूद- खाओ अमरूद। यह दिल का दर्द दूर करता है।" और मैं चुपचाप अमरूद खा लेती। "बहुत दुखता है क्या?" वह कहता। "छूकर देख लो न"–मेरा जवाब होता।

उस किशोर की बहुत-सी यादें आज भी मेरे मन में बसी हुईं हैं। उसने मुझे कभी नाम से नहीं पुकारा था और न ही मुझे भाभी कहकर पुकारा था। मैंने झटके से विशाद्-योग की चादर फाड़ डाली और बंजारों की तरह निकल पड़ी। इस बीच अखबार की कतरनें जोड़-जोड़ कर मैं कुछ पढ़ने लगी, कुछ गुनगुनाने लगी। जिंदगी के किसी मोड़ पर मेरी मुलाकात किसी संगीत निर्देशक से हुई। उन्हें मेरी आवाज बहुत पसंद आई और मैं संगीत की दुनिया में पहुंच गई। गाते समय मुझे लगता कि वह किशोर मेरे सामने खड़ा है और

उसके साथ ही कर्कश आवाज से निकला शब्द 'रंडीखाना' भी, जिसका अर्थ मुझे अब समझ में आया।

अब अपनी आवाज के सहारे मैं हिन्दुस्तान भर में पहुंच चुकी थी। एक दिन अखबारों में छपी मेरी तस्वीर हाथ में लेकर, खोज-खोज कर वह किशोर मेरे पास आया। अब वह युवक हो चुका था। मैंने उससे पूछा– "घर में सब कैसे हैं?"

"मेरे घर में तो सिर्फ तुम हो"–उसने कहा। मैंने उसके लिए सुंदर कपड़ों की व्यवस्था की, उसे नहाने के लिए कहा, खाना खिलाया और अपने पास रहने के लिए कहा। "एक शर्त पर रह सकता हूं।" "बोलो"–मैंने कहा। "तुम मुझसे शादी करोगी। चिंता मत करो, तुम्हें छुऊंगा भी नहीं। तुम बहुत सुंदर हो। छूने से मैली हो जाओगी।"

"मैंने तो अब इस 'रंडीखाने' से शादी कर ली है।" और हारमोनियम उठाकर बजाने लगी थी। वह झूम रहा था। उसकी आंखों में प्यार के आंसू बह रहे थे। दूसरे दिन नाश्ते के समय उसने मुझसे कहा–"सुनो, तुमने मुझसे पढ़ने के लिए क्यों नहीं कहा।"

"तुम्हें रूचि नहीं थी न।"

"एक बार तुम कहकर तो देखती। दीमक की तरह सारी किताबें चाट जाता। तुम्हारी वह संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू सब कुछ......।"

मैं कुछ नहीं बोली थी। रिकार्डिंग के बाद जब मैं लौटी तो उस किशोर का अता-पता नहीं था। कुछ दिन के बाद किसी ने मुझसे कहा कि तुम्हारा वह मित्र बहुत बीमार है। तुम्हें याद करता है। मैं भागी-भागी उसके पास गई। वह बेहोश पड़ा था। मैं उसे घर ले आई। डॉक्टर बुलाया। उसने एक बार आंखें खोलीं और मेरी ओर अपना दुर्बल हाथ बढ़ाया। मैंने उसे थाम लिया। उसके होंठों पर दिव्य मुस्कान फैल गई और उसकी आंखों से निकला नूर मेरे तन-मन को छूकर कहने लगा–"चिंता मत करो। मैं तुम्हें छुऊंगा नहीं। तुम बहुत सुंदर हो। मैली हो जाओगी।"

2

यही होंगे निरंजन

जिंदगी के तीव्र मोड़ पर मेरी मुलाकात ऐसी महिला से हुई जिनका व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक था। मैंने उन्हें किसी सम्मान समारोह के अवसर पर मंच पर देखा था। उनकी सुरूचि सम्पन्न वेशभूषा, सम्मान ग्रहण करने का शिष्टाचार, मंथर गीत की चाल, मंद-मंद मुस्कान और खिला-खिला चेहरा किसी को भी आकर्षित कर सकता है। उद्घोषिका के अनुसार वे बहुगुण सम्पन्न थीं और मेरी नज़र के अनुसार वह सर्वगुण सम्पन्न थीं। उनका ऩाम पल्लवी था। उनकी चर्चा अवसर समाचार-पत्रों की सुर्खियों पर रहती थी। मैंने यह सोचा भी नहीं था कि मेरी मुलाकात उनसे इस तरह हो जाएगी। दर्शकों में बैठी मैं उन्हें अपने मन के तराजू में तोल रही थी। सम्मान ग्रहण करने के पश्चात् वे मंद-मंद चाल से मंच से उतरती अपने मित्रों से शिष्टता से हाथ मिलाती अपनी कुर्सी पर आ बैठी थीं।

मैं सोच रही थी कि अब तक उनसे मेरी मुलाकात क्यों नहीं हुई थी। समारोह सम्पन्न होने के पश्चात् मैं उनके पास बधाई देने पहुंची तो उन्होंने मुस्कराते हुए कहा कि ये आपकी ही कृपा है।

"ये मेरी नहीं ईश्वर की कृपा है।"

"मुझे तो आप में ईश्वर दिखाई देता है।"

मैंने साहस करके उनसे पूछा—"अब तक आप कहां थीं?"

"पहले कोटअददू, फिर मुल्तान, फिर लाहौर, फिर दिल्ली, फिर जापान, फिर यूरोप और फिर दिल्ली।"

बात को हंसी में उड़ाते हुए वह बोलीं—"वैसे मैं समझ गई कि आप यही कहना चाहती हैं न कि अब तक हमारी मुलाकात क्यों नहीं हुई। जब ईश्वर चाहता है तभी मुलाकात होती है।"

मैंने फिर उनसे पूछा–"क्या मैं आपके घर आ सकती हूं।"

मुझे जवाब मिला–"हां, हां, क्यों नहीं।"

उन्होंने पर्स में से विज़िटिंग कार्ड मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा–"ये लीजिये। तो हम एक-दूसरे से इजाज़त लें।" उनसे बात करने के लिए बहुत लोग बेताब थे। मैं घर चली आई। मैं अपने मानस चक्षुओं से देख रही थी कि पल्लवी इसी तरह अपनेपन से सबसे बात कर रही होंगी। एक ही शहर में रहते हुए मैं उनसे अब तक क्यों नहीं मिल सकी? यही सवाल मन के आकाश पर बादलों की तरह उमड़-घुमड़ रहा था। मैंने कुछ मित्रों से उनके बारे में बातचीत की। पता चला कि उन्हें इस शहर में आए हुए ज्यादा समय नहीं हुआ लेकिन उनकी कीर्ति इस शहर में आने से पहले पहुंच चुकी थी।

उनसे फोन पर समय लेकर नियत समय पर जब मैं उनके घर पहुंची तो वे अपने बगीचे में बैठकर फूल सजा रही थीं। सर्दी में फूलों की कई तरह की रंगत और महक को उन्होंने कन्टेनर में सजा रखा था। उन्होंने माली को निर्देश दिया और मुझसे कहा–"आइये, अंदर चलें।" मैं उनके पीछे-पीछे बैठक में चली आई सुतली की सुरूचिपूर्ण कुर्सियां, शीशे की अर्द्धचंद्राकार छोटी-बड़ी मेजें, दीवारों पर सजी राजनेताओं से लेकर संगीतकारों, साहित्यकारों की तस्वीरें। इस बीच उनका सेवक चाय-नाश्ता रख गया था। चाय के घूंट भरते हुए मैंने उनसे यूं ही पूछ लिया–"आपके घर में कौन-कौन हैं?"

"आपका मतलब? मेरे घर में मेरे ये राजनेता और साहित्यकार बंधु, मेरी ये खूबसूरत कुर्सियां, यह अर्द्धचन्द्राकार तिपाईयां, ये खूबसूरत फूल सभी मेरे घर में रहते हैं। वैसे मैंने आपको अपना विजिटिंग कार्ड दिया था, अपने घर वालों का नहीं।" उन्होंने कलाई घड़ी देखकर कहा–"अच्छा, तो मैं चलूं।" और वे तत्काल बाहर जाकर ड्राईवर को गाड़ी लाने के लिए पुकारने लगीं। इसका मतलब यह था कि मैं अब जा सकती हूं। मुझे अपनी भूल का अहसास हुआ। मुझे उनसे उनके परिवार के बारे में नहीं पूछना चाहिए था। फिर वे मोटर मे बैठकर चली गईं। जब मैं बाहर निकलने को हुई तो उनका सेवक मुझसे पूछने लगा–"क्या बात हो गई, मैडम? माँजी ने तो आपके लिए खाना बनवाया था।" इससे पहले कि मैं कुछ कहती वह बोला–"आपने जरूर उनसे उनके परिवार वालों की बात पूछी होगी। इसी बात से माँजी खफ़ा हो जाती हैं। यह तो हम भी नहीं जानते उनके घर में कौन-कौन हैं। कभी-कभी लगता है जो लोग भी उनसे मिलने के लिए आते हैं वे सभी उनके घर के लोग हैं। अखबार वाले, रेडियो वाले, गाने वाले, लिखने वाले सभी उन्हें इज्जत से पुकारते हैं और माँ जी भी किसी के लिये चाय, किसी के लिए खाना

बनवाती हैं। कभी वे फूल सजाती, कभी रेडियो सुनती, कभी पड़ोस के बच्चों को गोली-मिठाई देती। सभी उनके दिवाने हैं। आपकी बात ने उनका जी दुःखा दिया होगा। जब भी वे मोटर निकालने को कहती हैं तो हम लोग समझ जाते हैं कि किसी ने उनका जी दुःखाया है।"

ढेर सारा पछतावा लेकर मैं अपने घर को लौटी और खुद को बार-बार कोसने लगी। मेरे बारे में पल्लवी क्या सोचती होगी कि मैं कितनी घटिया औरत हूं। उसके बाद चाहकर भी मैं उनसे मिल न सकी। न मैं फोन करने का साहस जुटा सकी, न ख़त लिखने का। लंबे अर्से के बाद एक समारोह में मेरी उनसे मुलाकात हुई। उन्होंने मेरी ओर एक छोटा-सा कागज बढ़ाया कि आज रात का खाना मेरे साथ खाना। हम लोग साथ-साथ घर चलेंगे। समारोह की समाप्ति के बाद मैं चुपचाप यंत्रवत् उनकी मोटर में जा बैठी। घर पहुंच कर मैंने देखा कि सच में ही बहुत सारे लोग उनके घर में रहते हैं। पशु-पक्षी, पेड़-पौधों से लेकर इंसान तक। खाना खाने के बाद वे मुझसे बहुत सारी बातें करती रहीं। कभी इस शहर की, कभी उस शहर की, कभी इस नगर की, कभी उस नगर की, कभी इस संगीत की, कभी उस संगीत की। मुझे लगा कि वे मेरी पहली वाली बदतमीजी को भूल चुकी हैं। उनका सेवक भी कभी अपना गमछा कंधे पर लटकाता, कभी कमर पर बांधता और कभी कोई फिल्मी गीत गुनगुनाने लगता। मुझे लगा कि सभी कुछ ठीक-ठाक है। मुझे उस दिन की पल्लवी याद आ गई जिस दिन वे मुझसे पहली बार मिली थीं। खाना खाते-खाते जब वह मुस्कुराती या खिलखिलाती तो मुझे उस गुड़िया की याद आ जाती जिसके पेट में से कैसेट की आवाज निकलती है—"पैक माइ लंच, पैक माइ लंच, आई विल कम सून।" इस निश्छल हंसी वाली पल्लवी पर भला कौन मुग्ध नहीं होगा। फिर अपने घर से इतनी दूर अकेली क्यों रहती हैं? उनका घर कहां है? यही सवाल बार-बार मेरे होठों पर आते लेकिन मैं उन्हें जबरन धकेल देती।

खाने के बाद कॉफी पीते हुए वे मुझसे बोलीं—"सुनो, तुम मुझसे उस दिन पूछ रही थी न कि मेरे घर में कौन-कौन हैं। उसका जवाब ये है कि मेरे घर में सिर्फ मैं हूं। मैंने ही अपनी मेहनत से यह घर खरीदा है। उसकी एक-एक चीज को जतन से सहेजा है। मेरी इजाज़त के बिना इस घर का पत्ता भी नहीं हिल सकता। वैसे एक आदमी से भी घर 'घर' हो जाता है। चिल्ल-पों करने वाले दस लोगों से अच्छा है कि घर में एक ही आदमी रहे जिसकी शांति से आकाश की असीम शांति भी लजा जाए। याद रखो घर पति, प्रेमी, बेटा-बेटी, भाई-बहन और यहां तक कि माता-पिता से नहीं बनता। घर बनता है व्यक्ति की शांति से। भविष्य में भूल कर भी ऐसे बेहूदे सवाल किसी से नहीं पूछना,

नहीं तो किसी शांत झील में कंकर गिरने से तूफान आ जाएगा।" और वे ड्राइवर को मुझे घर छोड़ आने का आदेश देकर अपने कमरे में चली गई। उनकी जिंदगी की किताब का दूसरा पन्ना मेरे सामने बहुत दिन तक फड़फड़ाता रहा था। मैं चाहकर भी इस फड़फड़ाहट को रोक नहीं सकी थी।

पता नहीं पल्लवी जी से मैं क्यों आतंकित रहती थी? उनका मंच वाला सौम्य व्यक्तित्व घर वाले तूफानी व्यक्तित्व से कहीं मेल नहीं खाता था। रात के सन्नाटे में उनका गुरू-गंभीर गर्जन मुझे बेचैन कर जाता। किसने दिया होगा उन्हें ये दर्द जो बूंद-बूंद रिसता था। दर्द के दरिया में निमज्जित पल्लवी जी के कई रूप धीरे-धीरे मेरे सामने आने लगे थे। चाय पीते-पीते कभी वे मौन हो जाती। ऐसी मौन कि ऋषि-मुनि भी क्या खाकर मौन साधना करते होंगे। सफ़ेद काग़ज़ों पर काली स्याही से लिखे चमचमाते हुए उनके सुंदर अक्षर जब आंखों की बदली से बरसती बूंदों से भीग जाते होगें तो वे ख़त उस व्यक्ति के पास ज़रूर पहुंच जाते होंगे जिसने उनके मन के खिलखिलाते फूलों को मुरझा दिया था।

और मैं अपने को क्या नाम दूं? मैं कोई भी नाम अपनी इस मानसिकता को दे सकती हूं जो हर व्यक्ति के भीतर अजगर की तरह छिपा रहता है और अपना शिकार देखकर उसे निगलने के लिए तैयार रहता है इसलिए मैं खुद को कोई नाम नहीं देती। उसे सिर्फ 'मैं' कहती हूं। पाठक भी मुझे 'मैं' ही समझें।

ज्यों-ज्यों मैं उनके निकट जाती गई त्यों-त्यों मुझे उन्हें समझने का मौका मिलता गया। वे अनुशासन प्रिय थीं और किसी भी प्रकार की अनुशासनहीनता को सहन नहीं कर पाती थीं। उन्होंने घर में यह आदेश दे रखा था कि किसी भी अतिथि को बिना नाश्ता कराए न भेजा जाए। ज़रा-सी कोताही बरतने पर वे उग्र हो जाती थीं। वे उच्च्व पदासीन थीं। नारियल की तरह वे बाहर से कठोर और भीतर से बहुत ही कोमल थीं। ये तो उनका निजी व्यक्तित्व था। सामाजिक व्यक्तित्व बहुत ही विनम्र। मैं जितना उन्हें समझने की कोशिश करती उतना मैं उलझती चली जाती। उनसे मिले बगैर मुझे चैन नहीं पड़ता था। शायद वे भी मुझसे मिलना पसंद करती थीं। मुझे लगता कि वे मुझसे अपना अतीत बांटना चाहती हैं लेकिन अचानक वे चुप्पी साध लेती। बैठक में बैठे रहने पर भी वे वहां नहीं हुआ करती थीं। उनका मन न जाने कौन-से आकाश की उड़ान भरता रहता। फिर मुझे लगता कि मैं क्यों उनकी ज़िंदगी में झांकने की कोशिश करती रहती हूं लेकिन उनका व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा था जो मुझे सोचने पर बाध्य कर देता। क्यों छोड़ा होगा उन्होंने अपना घर और परिवार, बंधु-बांधव और क्यों फिसलने दी होगी रिश्ते-नातों की मुलायम

डोरी? मैं चाहकर भी उनसे पूछ नहीं सकती थी। मैं क्या उनसे कोई भी नहीं पूछ सकता था।

एक दिन उन्होंने मुझसे फोन पर कहा—"मेरी चाची आई हैं। तुम तुरंत चली आओ।" चाची भी हूबहू उन्हीं की तरह थीं। नपा-तुला बोलती और ढेर सारा सुनती। एक दिन गुनगुनी धूप में बैठते हुए चाची को न जाने क्या सूझा कि वे पल्लवी की एक-एक पर्त खोलती चली गईं—"इस लड़की को ज़रा भी मोह-माया नहीं है। होता भी कैसे? न इसे किसी ने मोह-ममता दी और न ही इसने ली। बचपन से ही वे रेत के घरौंदे बनाती, टकटकी बांध आकाश को देखती रहती। सभी की डांट-डपट खा अपना पेट भर लेती। माँ-बाप तो नहीं लेकिन मैं इसकी चुप्पी से डर जाती। घर के कभी किसी कोने में, कभी किसी दरवाजे के पीछे लुक-छिप कर बैठी रहती। घर के बड़े-बूढ़ों ने सलाह दी कि इसके हाथ पीले कर दिये जाएं तो सब ठीक हो जाएगा। तो वह भी कर दिए गये लेकिन इसकी बची-खुची खुशी को उस आदमी ने छीन लिया जिसके साथ इसके फेरे करवाए गए थे। पन्द्रह दिन बाद जब ये ससुराल से घर लौटी तो इसका कुंदन-सा रंग स्याह पड़ गया था। घरवालों की खुसर-फुसर सुन उसने कहा कि अब मैं जाऊंगी। अपने लिए एक नया घर तलाशूंगी। इसे जाने से कोई भी नहीं रोक सका। वह अपनी सहेली के घर कुछ दिन रही और अपने लिए एक नौकरी तलाश ली। उसने अपने लिए एक मकान किराये पर लिया। वही मकान इसके नवजात शिशु का साक्षी है। ससुराल वालों ने इसके माथे पर काला टीका लगा दिया। वह दिन और आज का दिन, न ये मायके गई और न ससुराल। बच्चे को होस्टल में पटका और चली गई विदेश की ओर। कई साल बाद जब ये लौटी तो मैंने इससे कहा कि कैसी बेरहम माँ है तू? तुम्हें बच्चे का भी ध्यान नहीं आया।" "इसमें बेरहमी की क्या बात है? जैसी बेरहमी तुम लोगों ने मुझे दी वही तो मैं उसे देती हूं। होस्टल में रहकर वह लड़का धक्के खा-खा कर आत्म-निर्भर बन जाएगा।"

"धीरे-धीरे ये बड़े-बड़े ओहदों पर पहुंचती गई। इसकी यात्राएं बढ़ती गईं। देश-विदेश के राजाओं-महाराजाओं के साथ उठती-बैठती थी तो हर तरह की तहजीब जान गई थी। धन-दौलत की भी कोई कमी नहीं थी। बेटे ने भी पढ़ाई पूरी कर ली थी। मैं इससे कहती रहती कि बेटे की नौकरी लगवा, उसकी शादी कर और सेवा करने वाली अपने लिए बहू ले आ। मेरी बातें इसे कांटों की तरह चुभ जाती और इसका लावा फूटने लगता।" "मैंने उसे पढ़ा दिया। नौकरी ढूंढने और बहू ढूंढने का काम उसका है मेरा नहीं। रही बात सेवा करवाने की। सेवा क्या वह तो मुझे ही बांदी बनाकर रखेगी।"

और मेरी बात को उसने हवा में उड़ा दिया था। उसके बेटे ने नौकरी और पत्नी दोनों तलाश रखी थीं। शादी के दिन दूसरे मेहमानों की तरह पल्लवी भी बहू-बेटे को आशीर्वाद देने पहुंची थी। दूसरी सुबह बेटे ने माँ से पूछा—"तुम्हारा क्या प्रोग्राम है माँ?" पल्लवी कुछ नहीं बोली थी। वह इधर-उधर फोन घुमाती रही और सांझ होते ही अपना ब्रीफकेस उठाकर चली गई थी। जाते-जाते उसने बहू से कहा—"मैं जा रही हूं और मुझे ढूंढने की कोशिश भी मत करना।" और वह तीर की तरह घर से बाहर निकल गई थी। जब मुझे पता चला तो मैंने उन्हें फटकारते हुए कहा—"अरे नासपीटों, ये तुमने क्या कर डाला। बड़ी मुश्किल से तो वह तुम्हारे यहां आने को राज़ी हुई थी और तुमने उसे धक्के मार कर बाहर निकाल दिया।"

"हमने कहां निकाला? वे तो खुद चली गई थीं।"

"अरे करमजलों, इसे ही निकालना कहते हैं। अब वह तुम्हारे यहां कभी नहीं आयेगी।"

मैं चुपचाप चाची की बात सुनती रही थी। चाय पीने के बाद चाची फिर बोलने लगी थीं—"मुझे बहुत बाद में पता चला। पल्लवी को खड़ाऊं से पीटा गया। उस पर जलती अंगीठी फेंकी गई थी। उसकी मुलायम हथेलियों पर धधकते अंगारे रखे गये थे और वह कुछ नहीं बोली थी। बाद में जब मुझे पता चला कि वह इस शहर में आ गई है तो मैं उसे बाहों में भरने के लिए बेचैन हो उठी। इस शहर ने उसे मुस्कराना सिखा दिया है। उसने मुझसे कहा—"चाची यह तुम्हारा ही घर है।" मैं भी यही सोचती हूं कि वह जहां भी रहे खुश रहे। आसीस के अलावा मैं उसे कुछ दे भी नहीं सकती।

पल्लवी जी की दास्तान चाची के मुख से सुनकर मैं परेशान हो उठी और "फिर आऊंगी" कहकर अपने घर चली आई। चाची की बातों ने मुझे निढाल कर दिया था। निढाल होने के सिवा मैं कुछ और कर भी नहीं सकती थी। जो कर सकते थे उन्होंने ही उल्टा-पुल्टा किया उसे मैं ठीक कैसे कर सकती हूं। पल्लवी जैसी सर्वगुण सम्पन्न महिला को मैं क्या कोई भी कुछ नहीं कर सकेगा। मैं चाची से मिलने में भी घबराने लगी। एक दिन मुझे फोन से पता चला कि चाची लौट गईं हैं। पल्लवी जी ने मुझे फोन पर कहा कि इस रविवार को तुम मेरे यहां आना। मैं जब उनके यहां गई तो वे बरामदे में बिछी आराम कुर्सी पर बैठी थीं। उन्होंने भरपूर शृंगार किया हुआ था। माथे पर चमचमाती बिंदी, हीरे की नथ, गले में गुलबंद, बाहों में बाजूबंद, कमर में तगड़ी, हाथ में कंगन, पैरों में पायजेब और बिछुए और साथ में रानी रंग का आल्ता बंधेज की साड़ी और खुले लहराते बालों में मोतिया के फूल। उन्हें मैं देखती की देखती रह गई। इस उम्र में भी इतनी खूबसूरत। कोई भी फ़िदा हो जाए। मैंने उनसे डरते-डरते कहा—"दीदी, आपने किसी से प्यार किया है?"

"हां, किया है न।"

मैं उनकी साफगोई से चौंक गई थी। "कौन है वह?"

"है न कोई। पर वह नहीं है जिसके साथ मेरी शादी हुई थी। उसकी तो मैं शक्ल भी भूल चुकी हूं और धीरे-धीरे इस आदमी की शक्ल भी भूल जाऊंगी जिसको मैंने भरपूर प्यार किया है। अपने तन से, मन से।" अब वे बोलती चली गईं थीं। "जिंदगी के किसी मोड़ पर उनसे मुलाकात हो गई थी। मैं उनकी सुरूचिपूर्ण वेशभूषा पर मंत्र-मुग्ध थी और उनके शिष्ट-शालीन व्यवहार से बहुत प्रभावित थी। वह अदब-कायदे से हाथ जोड़कर मेरा अभिवादन करते और मेरे नाम के साथ 'जी' लगाकर बात करते। खाने से लेकर ज्योतिष तक की सभी बातें हमारी चर्चा के केन्द्र में रहती। हम दोनों एक-दूसरे की प्रशंसा करते। वे हर रोज़ फोन पर कुशल-क्षेम पूछते। मुझे अपना ध्यान रखने के लिए कहते। मैंने उन्हें अपने अतीत के बारे में कुछ नहीं बताया था लेकिन वे गहरी आवाज़ में डूबकर कहते—"चिंता मत कीजिये, धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।" दीपावली और मेरे जन्मदिन पर वे मुझे साड़ी देते और कहते—"भले ही आप इन्हें मत पहनें। यदि आप इन्हें अपने वार्डरोब में टांग देंगीं तो यह मेरा सौभाग्य होगा।" वे मेरी ओर बेहद आकर्षित थे यह मैं जान गई थी। हम कभी बाहर खाना खाने जाते। वे बड़े चाव से मेरी पसंद के व्यंजन मंगवाते और मुझे खाता देखकर खुश होते। इससे ज्यादा मैंने उनसे कुछ चाहा ही नहीं। वे अपने व्यस्त समय में से मेरे लिए जितना भी वक्त निकाल पाते थे उसी में मैं बहुत संतुष्ट थी।

मैं उनके घर कभी नहीं गई थी लेकिन मैं इस मन को क्या कहूं जो मुझे बार-बार कहता है कि मैं उस घर की मालकिन हूं और मैं खुद को उस घर की मालकिन समझने लगी थी और नौकर-चाकरों को भी आदेश देने लगी थी। मैं बहुत सीधी थी। जिस आदमी ने मुझसे शादी की मैं उरुके घर की भी मालकिन नहीं बन सकती तो ये व्यक्ति तो मेरे साथ दो-चार कदम ही चला था लेकिन रही न कमजोर मन की बात। उनका किसी दूसरे शहर में तबादला हो गया था। फोन वाली घंटों हुई बातें मिनटों में सिमट गई थीं। मैं उनके फोन का इंतजार करती रहती और हफ्ता बीत जाता। वे उस शहर में आते और मुझसे बिना मिले, बिना टेलिफोन किए लौट जाते। मुझे लगता कि मेरी घोर उपेक्षा हो रही है। जब मैं खुद फोन करती और शिकायत भरे लहजे में कुछ कहती तो वे कहते—"सॉरी, आप मुझे दण्डित कीजिये।" उस व्यक्ति को तो क्या अनेकानेक अत्याचार सहकर भी मैंने किसी को भी दण्डित नहीं किया। जब मैं उनसे कहती—"आप जानते हैं न, मैं आपसे बहुत प्यार करती हूं।"

"जी, हां।"

"फिर मुझे देने के लिए आपके पास प्यार की एक बूंद भी नहीं है, ऐसा क्यों?"

उनका उत्तर होता–"मुझे दण्डित कीजिये।"

वे ज्यादातर व्यस्तता का बहाना करते लेकिन उनकी व्यस्तता मुझे रास नहीं आती थी। मैं शायद उनसे भी ज्यादा व्यस्त थी। इस बार जब उन्होंने नववर्ष पर भी मुझे फोन नहीं किया तो मैं आहत हो उठी। फोन पर मैंने कहा–"आपने फोन क्यों नहीं किया।"

"घर पर बहुत लोग आ गये थे।" उधर से जवाब मिला।

"और उन लोगों की सूची में मेरा नाम कहां है"–मैंने भर्राये गले से कहा।

हम लोग बिना बात किए पन्द्रह मिनट तक फोन का चोंगा थामे बैठे रहे। मैंने हिम्मत करके एक बार कहा कि अब मैं इस देश से बाहर चली जाऊंगी। तुम मुझे ढूंढने की कोशिश मत करना। तुम इस लायक नहीं हो कि मैं तुमसे प्यार करूं। मैं क्या तुमसे तो कोई भी प्यार नहीं करेगा। तुम मेरी आवाज सुनने को भी तरस जाओगे। मैंने उनकी दी हुई सभी साड़ियां और दूसरी चीजों का पार्सल बनाया और उन्हें भेज दिया। एक बार फिर मैं विदेश चली गई। वहां से लौटने पर मैंने उन्हें ढूंढने की कोशिश नहीं की। वह शहर जिसमें वे रहा करते थे उसे छोड़कर अब इस शहर चली आई।"

मैं अब समझ सकी कि उनके लेखन में इतना दर्द क्यों होता है?

मैं उस व्यक्ति को क्या नाम दूं जिसने पल्लवी जी को इतना दर्द दिया था। रंजन, सुरंजन या निरंजन। सुविधा के लिए मैं उसे निरंजन नाम देती हूं। अब मैं पल्लवी जी के बारे में कम और निरंजन जी के बारे में ज्यादा सोचने लगी। मैं अपने मानस-चक्षुओं से देख लेती कि पार्सल मिलने पर वह आदमी कितना छटपटाया होगा। वह जरूर खुद को कोसता होगा कि उसने बार-बार उस व्यक्ति को पीड़ित किया जो उससे इतना प्यार करता है मानो वह मुझसे कह रहा हो कि हां, मैंने पल्लवी के साथ विश्वासघात किया है। वह जितनी ही नजदीक आने की कोशिश करती रही मैं उससे दूर भागता चला गया। अक्सर पल्लवी कहा करती कि "मैं तुम्हें छूने का भरसक प्रयास करती हूं लेकिन तुम मेरी पहुंच के दूर हो और मैं हंस देता। मुझे आज भी याद है कि मैं किसी विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर के लिए चयन समिति में था। मेरे पास पल्लवी का भी परिचय वृत्त आया था। यदि कोई ईमानदारी से उसे पढ़ता तो उसे कोई भी धकेल नहीं सकता था लेकिन मैं था कि उस पद के लिए उसके लिए रूकावट ही बना रहा। मैं अपने घर पर बहुत से साहित्यकारों को

भोजन पर निमंत्रित करता रहा लेकिन पल्लवी को कभी नहीं किया। मैं हमेशा उसकी प्रशंसा करता कि यदि किसी ने शालीनता सीखनी हो वह तुमसे ही सीखे। पल्लवी मेरी प्रशंसा से जितनी खुश होती मेरी उपेक्षा से उससे भी ज्यादा आहत हो जाती। मैं ऐसा क्यों करता रहा खुद भी नहीं जानता। कितना बड़ा दिल है उसका जो अपनी शिकायत कभी नहीं करती। मैं जानता था कि मैं उसके प्रति क्रूर हो जाता रहा लेकिन मैंने ये कभी नहीं सोचा था कि वह इस कोमल तंतु को तोड़ फैकेंगी। वह अक्सर मुझसे कहती कि हम आपसे रूठ जाएगें लेकिन मुझे पता था कि वह कभी नहीं रूठेंगी। यदि रूठेगी तो मैं उसे मना लूंगा। वह न ही मुझसे रूठी और न मुझे मनाने का मौका मिला। उसने हम दोनों के बनाए घोंसलें को तेज आंधी की तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मैं क्यों दोगली चाल चलता रहा यही नहीं समझ पाया। जब समझा तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

पार्सल मिलते ही मुझे लगा कि मैंने नन्हे-से प्यारे परिंदे का गला घोंट दिया है। मेरे हाथ लहु-लुहान हो गये हैं। बार-बार हाथ धोने पर भी वह मुझे साफ दिखाई नहीं देते। मैंने निर्णय किया कि पल्लवी दुनिया के जिस भी कोने में होगी उसे मैं ढूंढ लाऊंगा और अपने घर ले आऊंगा। वहां प्यार से उसके बालों में वेणी लगाऊंगा और वह खिलखिला उठेगी।

कुछ दिन बाद जब मैं पल्लवी जी के घर गई तो एक प्रौढ़ से व्यक्ति बैठक में बैठे थे। मैंने सोचा कि यही निरंजन होंगे और मैं उल्टे पांव वापिस लौट गई।

3

वसीयत

"दादी-माँ, वसीयत क्या होती है?"

"चल हट। कैसी-कैसी बातें पूछने लगा है, रे।" मीठी डपट लगाते हुए पारो ने कहा।

"मैं क्या? सभी वसीयत की बात करते हैं।"

यह बच्चा भी बड़ी-बड़ी बातें करने लगा है—पारो ने मन-ही-मन कहा।

"सभी कौन?"

"मम्मी, पापा, चाचा, चाची, ताया, ताई।"

"किसकी वसीयत की बात करता है तू?" पारो ने बच्चे की पीठ थपथपाते हुए तह तक जाने की कोशिश की।

"आपकी और किसकी? सभी यही कहते हैं, अब तो दादी माँ को वसीयत कर लेनी चाहिए। वे रिटायर हो गयी हैं न।"

"चल हट, पगला कहीं का।"

खेल-खेल में बच्चा जैसे आया था वैसे ही चला गया। तो सब लोग यही खिचड़ी पकाते रहते हैं। पारो कुछ गहरे डूब गयी। अभी उसकी रिटायरमेंट को कुछ ही महीने हुए थे। उसने अपनी हर रोटी अपने ही पसीने से खरीदी थी इसलिए, पैसे-रोटी और पसीने की अहमियत से वह बखूबी वाकिफ थी। उसे अब भी याद है कि शादी के बाद उसे चौदह वर्ष लग गये थे, अपना रास्ता खोजने में। पहली बार जब उसे तनख्वाह मिली, तो वह खुशी से फूली नहीं समायी थी। दो-दो रूपये अपने बच्चों को दिये और दो रूपये का प्रसाद मंदिर में चढ़ाया। स्वभाव से मितव्ययी होने के कारण आधे से ज्यादा तनख्वाह बच गयी थी। उसे अब भी याद है कि अपने घर आने वाले हर अतिथि की वह आवभगत करती और सौ रूपया देकर विदा करती। वसीयत की बात उसके

लिये नई नहीं थी। बार-बार उसके सामने कहा जाता था। भले ही, वह दबी जबान में क्यों न हो?

"माँ। तुम्हें प्रोविडेंट फंड का पूरा पैसा मिल गया न।"

"पेंशन का भी हो गया न।"

"सब कुछ करा लेना चाहिए। सरकारी काम तो वैसे ही होते हैं।"

"माँ बहुत होशियार है। सब कुछ पहले से ही करा लिया होगा।"

पारो इन सबको जलती निगाहों से देखती और मोटर में बैठकर चली जाती। सच तो ये है कि उसके पैसे पर घर के सभी लोगों की नजर थी। पारो यह जानती थी कि आगे आने वाली सात पीढ़ियां न तो इतना पैसा कमा सकती हैं और न इतनी प्रतिष्ठा। लूले-लंगड़े हैं, ये सब। खुद कुछ कर नहीं सकते और दूसरे की दौलत पर गिद्ध नजर रखते हैं। खून के इन रिश्तों से पारो को सख्त नफरत हो गयी थी। वसीयत न हुई अलादीन का चिराग हो गयी। हिम्मत है तो बचाओ न। 'खुल जा सिमसिम', कहने से काम थोड़ी चलेगा। पारो बीच-बीच में डांट-फटकार लगाती रहती। पता नहीं क्यों इन लोगों में असुरक्षा की भावना घर करती जा रही है। इन्हें डर है कि माँ अपना खूबसूरत घर किसी संग्रहालय में न बदल दें। अपना पैसा अपने प्रिय शिष्यों को न दे दें। जब इन्होंने देखा कि उनका असर पारो पर रत्ती भर नहीं है, तो उन्होंने उनके मित्रों से कहलवाना शुरू किया। "पारो, तुम अपनी वसीयत क्यों नहीं कर देती? जिंदगी का क्या भरोसा? पता नहीं, प्राण-पखेरू कब उड़ जाएं?" एक मित्र ने कहा।

"तुम अपना रास्ता नापो। मुझे तो अपनी जिंदगी पर पूरा भरोसा है, क्योंकि मैंने अपनी जिंदगी को मांजा-चमकाया और सजाया-संवारा है। भरोसा नहीं है, तो इन गिद्धों का। ये तो मुझे नोंच-नोंचकर खा लेंगे। ना जाने कितनी बार इन्होंने मुझसे लाखों रूपये ऐंठे हैं। यह कहकर कि हम जल्दी लौटा देंगे। पर वह दिन आज तक नहीं आया। और, हां! जहां तक प्राण-पखेरू के उड़ने का प्रश्न है, वह इस दस द्वारे के पिंजरे को छोड़कर कभी नहीं उड़ेगा। उसका भी किसी सुंदर तन और मन से लगाव हो गया है। जहाज पर बैठे पंछी की तरह ये मेरा आत्मा यहीं बसा रहेगा, हमेशा के लिए।" उस मित्र को ये पता नहीं था कि पारो दर्शन के महज संसार में डूबी रहती है। बड़े-बड़े साधु-संतों को उसने डिगते हुए देखा था। पारो है कि चट्टान की तरह उसके सामने खड़ी है। सिर्फ उसने गेरूआ नहीं पहना था।

बात यहीं तक रहती, तो बात भी थी। पारो की अस्वस्थता पर किसी के 500 रूपये खर्च हो गये, तो घर में तूफान आ गया।

"मैंने तुमसे कहा था न माँ कि तुम अपनी बीमारी का बीमा करवा लो। पर तुम हो कि सुनती नहीं हो।" एक आवाज आयी।

"पता है इलाज कितना महंगा हो गया है। लाखों रूपये खर्च हो जाते हैं।" पारो ने आव देखा न ताव, उसने अपने पर्स में से एक पांच सौ का और एक बीस का नोट निकाला और उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "ये लो पांच सौ रूपये और ये लो बीस रूपये, उसका सूद। तुम लोगों को याद है कि तुम जन्म के बाद लुंज-पुंज की तरह बिस्तर पड़े रहते थे। कितनी-कितनी बार मैंने अपने पेट पर पट्टी बांधकर तुम लोगों की सेवा की। खबरदार। यदि तुम लोगों ने मेरी बीमारी के बीमे की बात की।" और पारो मोटर में बैठकर चली गयी थी। उसके मन में क्या तूफान उठ रहा था, कोई नहीं जानता। वैसे उसने जिंदगी में बहुत बड़े-बड़े फैसले अकेले ही लिये थे। इस बार भी फैसला लेते समय उसने लौह-पुरूष का रूप धारण कर लिया था।

एक दिन सुबह-सुबह तीन चार मोटरों में कुछ लोग आये और पारो उन्हें घर की एक-एक वस्तु बताने लगी। विदेशी मित्रों से मिले अमूल्य उपहार, पुस्तकें, धरोहरी चित्र सब कुछ उसमें शामिल था। वह एक अधिकारी को कुछ समझाने लगी थी, "ये संग्रहालय एक महीने में तैयार हो जाना चाहिए, मैं महीने भर बाद लौटूंगी।"

"कहां जा रही हो, माँ," सबने एक साथ पूछा।

"मैं कहीं नहीं जा रही। जा तो तुम लोग रहे हो। तुम लोगों के लिए मैंने एक मकान किराये पर देख लिया है।" और पारो ने टैंपो में बैठे ड्राईवर को और दो आदमियों को भीतर बुलाकर कहा—"ये सारा सामान नये वाले घर में पहुंचा दो।"

पारो ने अपने पोते को बुलाकर कहा, "बेटे, वसीयत ये होती है।" और वह मोटर में बैठकर चली गयी थी।

4

वे लौट आईं

उस दिन बच्चे के दूसरे जन्मदिन पर भव्य पार्टी का आयोजन था। हर क्षेत्र के मेहमान आए हुए थे। खिलखिलाहट, कैमरे की क्लिक, रंग-बिरंगे बिजली के लट्टू, तोहफों के ढेर, एक गोद से दूसरी गोद तक जाता, खिल खिलाता खूबसूरत बच्चा। मेहमानों की इस भीड़ में केवल एक ही व्यक्ति था जो अपने कमरे में मद्धम-मद्धम वाद्य संगीत सुन रहा था और इस व्यक्ति को कोई भी नाम दिया जा सकता था—दादा, दादी और बुआ। क्योंकि मध्यम वर्ग में बहुओं के आते ही यही तीनों घोर उपेक्षित हो जाते हैं और घर पर बहुओं के मायके का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। मैं जिस परिवार की बात कर रही हूं उसमें दादी माँ ही उपेक्षित थीं। घर में तनाव की वजह से उस घर की बुआ विदेश जा बसी थीं और दादा भुण्डुगिरी करने में तल्लीन हो गये थे। वह सुबह उठकर बेटे-बहू के लिए बैड-टी तैयार करता, नहाने का पानी तैयार करता और बच्चे के लिए दूध गर्म करता। उसके कपड़े बदलता। बहू ने पूरी ताकत लगा दी थी कि यह घर तिनकों की तरह तितर-बितर हो जाए। सच कहा जाए तो ऐसा हो भी गया था। उन तीनों की ये कोशिश होती कि बच्चे को दादी से दूर रखा जाए। विशेष रूप से ऐसी पार्टियों के अवसर पर बच्चे को दादी के पास फटकने भी न दिया जाता और बच्चा था कि "मेरी प्यारी दादी माँ, मेरी प्यारी दादी माँ" कहते-कहते उसकी पीठ पर झूलने लगता। खाना पकने पर तो एक-एक गस्सा दादी माँ के मुंह में डालता और खुश होता और दादी माँ भी उसके मुंह में एक-एक कौर डालती और खुश होती। उस घर के सभी लोग नशे में थे। ख़ासतौर पर दादा जी, जिन्हें एक पल भी ध्यान नहीं आता कि जिस महिला ने अपनी जिंदगी के पचास वर्ष घर की चाकरी

करने में बिता दिए कम-से-कम एक बार तो उससे पूछ ही लिया जाए कि तुम कैसी हो।

मैं अपने पाठकों को ये बता देना चाहती हूं कि ये परिवार निखट्टुओं का परिवार था। सभी बिस्तर पर पड़े रहते। उनकी नज़र में दिन और रात में कोई फर्क नहीं होता। दावत की बात करते-करते मैं दादी के मन में कैसे पहुंच गई ये नहीं जानती। पर इतना ज़रूर जानती हूं कि जो भी दादी के बाबत पूछता तो यही कहा जाता कि पड़ी होगी अपने कमरे में, संगीत सुनती, उससे इतना भी नहीं होता कि बच्चे के जन्मदिन पर कम-से-कम उसे गोदी में उठा ले। पर मेहमानों को क्या पता था कि अब इस घर के लोग ख़र्राटे ले रहे होते हैं तो दादी अपने लिए आंसुओं की माला पिरोती रहती है। मुझे ये भी मालूम है कि उस दावत में सभी ने जी भरकर खाना खाया लेकिन दादी को खाना खाने के लिए किसी ने भी नहीं कहा। सबकी नज़रों से नज़रें बचाकर वह बच्चा दादी के कमरे में जाकर कहने लगा "दादी माँ खीर खाओ खीर।" इसी तरह बारी-बारी से कई पकवान दादी को खिलाता रहा और दादी बच्चे को खुश रखने के लिए खाती रही।

अब दादी का मन उस घर में नहीं रमता था। वह चुपके-चुपके योजना बनाने लगी और उस घर को बेचकर विदेश चली गई और उस परिवार को पता चला कि घर क्या होता है। जिस मायके ने अपनी बेटी को घर तोड़ने के लिए बार-बार उकसाया था उसने बेटी से साफ आंखें फेर लीं। अब वह एक कमरे के किराये के मकान में रहती हैं और अपने मायके को कोसती हैं। कोसती हैं अपने ससुर को जिसने उसे यह लालच दिया था कि ये सब तुम्हारा है।

पास-पड़ोस को यह मालूम नहीं था कि दादी कहां चली गई। लेकिन वह इतना ज़रूर जानता था कि एक न एक दिन वह ज़रूर लौटेंगी। एक दिन सुबह-सवेरे अख़बार के पहले पन्ने पर जब दादी की तस्वीर देखी गई तो सभी खुशी से उछल पड़े। दादी को बड़े देश के राष्ट्रपति ने बहुत बड़ा अलंकरण प्रदान किया था और दादी रत्नजड़ित अलंकरण को धारण कर मुस्कुरा रही थीं। उसकी आंखों में खुशी दिखाई दे रही थी और उस पास-पड़ोस में ही नहीं पूरे हिन्दुस्तान में लौट आईं थीं।

मैं सोचती हूं क्या वह अपनी बहू के लिए भी लौट आई थीं। शायद कभी नहीं क्योंकि वह चाहती ही नहीं थीं कि दादी उसके पास रहे। वह हर दर्जे की उस शांत व्यक्तित्व से नफ़रत करती थी। ज़्यादा वक़्त नहीं हुआ था। चंद दिनों के बाद दादी की तस्वीर एक बार फ़िर अख़बार में छपी थी। हिन्दुस्तान के राष्ट्रपति उसका सम्मान कर रहे थे। हम सब पड़ोसियों ने अंदाज़ा लगाया

कि वे ज़रूर राष्ट्रपति भवन में होंगी। हमारा अंदाज़ा सही था। हमने उन्हें उसी जगह बुलवाया सम्मानित किया जहां वह कभी रहा करती थीं। हमने उनसे कहा कि "हमें मांफ़ कर दो।" "तुमने क्या किया है जो माफ़ी मांगते हो।" हमने सोचा दादी अपने परिवार के बारे में पूछेंगी लेकिन उन्होंने कुछ भी नहीं पूछा। वह हमेशा की तरह मौन, शांत और स्निग्ध थीं। हमें लगा कि संपूर्ण विश्व ही उनका कुटुंब है। लाख कहने पर भी वह हमारे पास नहीं रूकी थीं। एक देश से दूसरे देश, दूसरे देश से तीसरे देश और उसके बाद चौथे, पांचवे देश और न जाने कितने देशों की परिक्रमा करते वे सम्मानित हो रहीं थीं और कैसे ये उनके पति और पुत्र कि उनके सम्मान में सम्मिलित नहीं थे। हम पड़ोसी अख़बार में एक-एक पन्ने पर उनकी तस्वीर देखने को बेताब होते रहते।

एक दिन की बात है। दादी का पोता अख़बार लेकर अपने पुराने घर के सामने खड़ा होकर कह रहा था "ये देखो दादी माँ की तस्वीर। वे अब हिन्दुस्तान में रहती हैं और बहुत बड़े घर में रहती हैं। अब मैं उनके पास जा रहा हूं। दुनिया भर में चल-चल कर वे थक चुकी होंगी। मैं उनके पैरों पर लोट-लोट कर कहूंगा—मेरी प्यारी दादी माँ।"

5

शनिदेव का प्रकोप

बचपन से ही मैंने सुन रखा था कि हर शनिवार को तिल-तेल और सिक्का मांगने वालों को दे देना चाहिए। तो मैंने इस ओर इतना ध्यान नहीं दिया पर बाद में जब पंडितों ने मेरे भीतर साढ़े-साती का भय बिठा दिया और मैंने आस-पास शनि देवता कहने वाले लड़के को तेल पैसा देते देखा तो मैंने भी शुरू कर दिया। सुबह-सवेरे वह हांक लगाता। पैसा लेता और मंगल कामना करते हुए निकल जाता। इसी तरह कुछ वर्ष गुजर गए। अब वो अपने साथ एक और लड़के को भी लाने लगा। मेरे पूछने पर उसने मुझे बताया कि यह मेरा छोटा भाई है। मैं कभी एक की तेल भरी डोलची में पैसा डालती, तो कभी दूसरे की। शुरू में तो सब ठीक-ठाक चलता रहा लेकिन, बाद में वे दोनों झगड़ने लगे। एक कहता मेरी डोलची में डालो, दूसरा कहता मेरी डोचली में। झगड़े से बचने के लिए मैं दोनों की डोलची में पैसे डालने लगी।

वह पूरे ब्लॉक का चक्कर काटता और घर के लोग उसकी आने की प्रतीक्षा में लगे रहते। अब उनके मुख से मंगल-कामना कम और अपशब्द ज्यादा निकलते। बी-ब्लॉक में 300 से ऊपर घर हैं। उन दोनों ने आधे-आधे घर बांट लिए थे। मुझे पता ही नहीं चला कि हम लोग उन दोनों भाइयों की सम्पत्ति बन गए। उन दोनों में से यदि कोई एक दूसरे के घर की तरफ गलती से कदम रख लेता तो वे मरने-मारने पर उतारू हो जाते।

मैं सोचती कि ये कैसे शनिदेव हैं, जो शांति की बजाय महाभारत किए बैठे हैं।

इसी बीच, मैं अस्वस्थ हो गई और तिल-तेल के साथ उसे दूसरा कुछ सामान भी देने लगी। सात शनिवार या उससे कहीं कुछ ज़्यादा शनिवार बीत

जाने पर जब मैं अपना काम नियमपूर्वक करने लगी तो मैं तिल-तेल पर उतर आई। वह मेरे नौकर से पूछता–"बीवी जी ठीक हैं?"

वो कहता–"हां।"

वह उससे पूछता–"तुम्हारी बीवी जी अब बिस्तर कब पड़ेगीं?"

वो क्या जवाब देता इसकी तो जानकारी मुझे नहीं मिली। लेकिन, वे दोनों खुसर-फुसर करते रहते। सबसे पहला काम मैंने यह किया कि उस नौकर को घर से बाहर कर दिया और दूसरा काम यह किया कि शनिवार को तिल-तेल देना बंद कर दिया। एक दिन मैंने देखा कि 5-6 वर्ष का एक लड़का उसके साथ-साथ चल रहा है। मैंने पता लगवाया और मुझे मालूम चला कि ये उसका बेटा है। एक दिन की बात है कि पैसे के लिए दोनों एक-दूसरे को गाली दे रहे थे। बाप ने आव देखा, न ताव, उसके सिर पर ईंट दे मारा। बच्चे के सिर से खून बह रहा था। बाद में पड़ोसियों ने बताया कि लड़के को अस्पताल में दाखिल करवा दिया गया और बाप को हवालात में बंद कर दिया गया। मैंने सोचा शनिवार का सीधा प्रकोप तो उन लोगों पर रहता है, जो उनके नाम पर पैसा मांगते हैं और लोगों को ठगते हैं। वह दिन और आज का दिन न मैंने किसी शनिवार (शनिदेव) को देखा और न उसे तिल-तेल दिया। मुझे लगा कि निश्चल मन से नौ-ग्रहों को प्रणाम करने से वे अपने भक्तों पर अपने आप ही कृपा-दृष्टि कर लेते हैं। ईश्वर के बनाए सभी ग्रह कृपा का अनंत सागर निर्मित कर देते हैं। और व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार उस कृपा को अपने ऊपर उतार लेता है।

6

जल–समाधि

जब-जब भी मैं गढ़-गंगा की तरफ जाती हूं तो मुझे ऐसे व्यक्ति की याद आ जाती है जिसे लोग 'भगत जी' कहा करते थे। वे मुंह-अंधेरे उठते, अष्टाध्यायी के सूक्त याद करते, पास-पड़ोस के बच्चों को संस्कृत पढ़ाते, भिक्षावृत्ति करते और अपने परिवार का पेट भरते। वैसे भगत जी का गढ़ गंगा से रिश्ता बहुत बाद में जुड़ा। गंगा की लहरें उन्हें लील गई थीं।

बात बहुत पुरानी है। मेरे पड़ोसवासी बाबू जी सवेरे-शाम कीर्तन करते समय आसपास को बुलाते और करताल हाथ में लेकर नाचा करते। उनकी बैठक लोगों से भर जाती लेकिन मैंने कभी इस बैठक में झांका तक नहीं। दूध लेकर लौटते समय एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि हमारे यहां कल भगत जी आने वाले हैं तुम जरूर आना। उनकी उम्र का लिहाज़ करते हुए जब मैं उनके यहां गई तो एक प्रौढ़ व्यक्ति शीतल पाटी पर आलथी-पालथी लगाए बैठे थे। घुटने तक सफेद धोती, आधी बाहों वाली बण्डी, मोटे शीशों वाला चश्मा और आधा इंची बाल मुझे आज भी याद हैं। बाबू जी भक्ति-भाव से उन्हें खाना खिलाने लगे और मैं उठकर अपने घर आ गई। बाबू जी रोज़ सवेरे मुझे रोक लेते और मुझे भगत जी के बारे में बताते कि उनकी पत्नी बहुत सीधी हैं। उनका बेटा भी गऊ है। जो मिल जाता है वही खा लेता है। कभी बताते कि उनका बेटा आवारा हो गया है। कहता है कि ये पन्ना-पोथी छोड़ो और नौकरी कर लो। रोज़-रोज़ मुझे भीख मत खिलाया करो। मैं कहती—"ठीक ही तो कहता है।"

फिर कुछ दिन बाद बाबू जी ने मुझसे कहा कि भगत जी का बेटा बागी हो गया है। बम्बई भाग गया है। कहता है फिल्मों में काम करूंगा। मैंने फिर कहा—"निखट्टू की औलाद ऐसी ही होती है।"

"राम, राम, राम, भगत जी को निखट्टू कहती है।"

"हां, बाबू जी। जो आदमी कमा नहीं सकता। अपनी बीवी के लिए सूती धोती तक ला नहीं सकता वो निखट्टू नहीं तो और क्या है।"

इस बार बाबू जी चुपचाप अपने घर चले गए। कुछ दिनों के लिए मैं दिल्ली से बाहर चली गई। लौटने पर बाबू जी ने बताया कि भगत जी बहुत दुःखी हैं। उनकी बीवी ने भी बगावत कर दी है। कहती है मैं दूसरी शादी करूंगी। मैंने रटा-रटाया वाक्य कह दिया "ठीक ही तो कहती है", अंगारे उगलते हुए बाबू जी अपने घर चले गये।

एक दिन बाबू जी ने बहुत प्यार से मुझे अपने घर बुलाया। आगरे का पेठा और दाल-मोठ खिलाई। फिर अंदर जाकर पीतल की एक झांझर उठा लाए।

"किसके दहेज में देनी है, बाबू जी।" मैंने कहा।

"दहेज में देने के लिए नहीं, बजाने के लिए लाया हूं।" और उनकी उंगलियों की थाप से झांझर बज उठी। वे बोले "भगत जी जल-समाधि लेने वाले हैं। हम सब उनके चेले उनके पीछे गाते-बजाते जाएंगें। गढ़-गंगा जाएंगें हम सब, अगले हफ्ते।" मैं चौंक उठी। "क्या कहा, जल-समाधि। उन्हें चुल्लू-भर पानी नहीं मिला क्या? इतनी बड़ी नदी को अपवित्र करेंगें। यह जल-समाधि नहीं आत्महत्या है। मैं अभी पुलिस को फोन करती हूं।" वे रोए, गिड़गिड़ाए कि मैं वहां संगत में नहीं जाऊंगा। तुम पुलिस को फोन मत करो। मैं निश्चिंत होकर घर लौट आई। इस बात को कई दिन गुजर चुके थे।

एक दिन बाबू जी मेरे घर आ धमके। बोले "तुम ठीक कहती थी कि वह आत्महत्या है।" वे बहुत देर तक मुझसे बात करते रहे जिसका मतलब यह था कि भगत जी ने एक सेर पेठा खरीदा और गढ़ गंगा की ओर बढ़ चले। उनके पीछे-पीछे भगत जी की जय कहते हुए चेले-चपाटे भी लहरों में उतर गये। भगत जी ने बताया कि मैं एक-एक टुकड़ा पेठा डालता जाऊंगा, मछलियां आती जाएंगीं और फिर वे मुझे खा लेंगी। मैं दस साल के बाद फलां आदमी के यहां फिर से जन्म लूंगा और तुम सबसे एक बार मिलूंगा। तुम चिंता मत करना।

मुझे काटो तो खून नहीं। आखिरकार उस प्रपंची ने आत्महत्या कर ही ली। मैं गहरी सोच में डूब गई। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का बहाना करके उस निखट्टू ने चेले-चपाटों को मूर्ख बनाया और गढ़ गंगा को अपवित्र कर दिया।

रोज़ी-रोटी के लिए जब मैं लंबे अर्से तक विदेश में रहकर लौटी तो मुझे लेने के लिए बाबू जी हवाई अड्डे आए और बोले कि बेटी पन्द्रह साल हो गये उस धोखेबाज़ ने अब तक जन्म नहीं लिया। जिसके यहां जन्म लेना था उसकी पत्नी स्वर्गवासी हो गई। मैं हवाई अड्डे से लेकर घर तक के पूरे रास्ते में मौनी बाबा बनी रही। और एक बार मैं गढ़ गंगा की तरफ गई। यही वो गंगा है जहां उस प्रपंची ने "जल-समाधि" ली थी।

7

बचवा

दिल्ली विश्वविद्यालय की बाहरी दीवार से सटा एक छोटा-सा चूल्हा जलाए, चाय का पानी चढ़ाए मटमैले कपड़े पहने एक प्रौढ़ व्यक्ति बैठा रहता है और भाग-दौड़ करते रहते हैं आठ-दस बरस के दो-तीन बच्चे जो हर कमरे में अध्यापकों को चाय देते, झूठे गिलास उठाते, धोते और फिर चाय देते। उन तीनों में से एक लड़का मेरे कमरे में टंगे पर्दे को धीरे-से हटाता और पूछता—"चाय लाऊं, मैडम।" और मैं "ना" में उत्तर देती। एक दिन वो मेरे पास आकर खड़ा हो कर बोला "जिस पर आप बैठी हैं वो कुर्सी है न मैडम।"

"हां, हां कुर्सी है। तुम बैठोगे।"

"नहीं मैडम, मैं कुर्सी पर कैसे बैठूंगा। मैं तो अनपढ़ हूं न।"

"आओ बैठो।" खड़े होकर मैंने उसकी बांह पकड़कर उसे कुर्सी पर बिठा दिया और उसका चेहरा खुशी से खिल उठा। इसी तरह वो हर रोज़ मेरे कमरे में आता, कुर्सी पर बैठता और उसका चेहरा खुशी से खिल उठता।

एक दिन वो मुझसे बोला, "क्या आप मेरी बात सुनेंगी?"

मैंने कहा—"हां।"

"मैं कुर्सी पर बैठने के लिए ही शहर आया था। मेरा बापू कहता शहर जाओगे। बड़ा आदमी बनोगे, बंगला, गाड़ी, मोटर सब बनवाओगे। और मैं शहर चला आया। यहां तो अब मैं बर्तन मांजता हूं।" मैं कुछ नहीं बोली थी। सिर्फ़ उसकी ओर चुपचाप देखती रही थी। ढेरं सारे सपने लेकर वो शहर आया था। गाड़ी, बंगला तो शहर में रहने वाले लोग भी नहीं खरीद सकते, वो कैसे खरीदेगा। इस बीच वो कई दिनों तक नहीं आया था। मैं चिंतित हो उठी। एक दिन चुपचाप आया। मेरी आंखें छलक उठीं।

"कहां चले गये थे तुम इतने दिन?"

"कहीं नहीं। यूं ही उदासी आ गई थी।"

मैंने कहा—"क्यों?" जवाब में वो अपने दाएं पैर के अंगूठे से फर्श खुरचने लगा। "क्या मैं आपकी कार में बैठूं।" वो बोला।

मैंने कहा—"हां"। क्लास के बाद में उसे बंग्लो रोड, कमला नगर, शक्ति नगर घूमाते हुए विश्वविद्यालय के अहाते में छोड़ कर घर चली आई। दूसरे दिन मैंने उससे पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"हमारा क्या नाम है। आप जो भी बुलाएं।"

"तो मैं तुम्हें बचवा बुलाऊंगी" उसकी आंखें चमक उठीं। एक दिन मैं उसे अपने घर ले आई। वो मेरी हर चीज़ को छू-छू कर देखता। कभी खुश और कभी उदास होता। हफ्ता भर रहने के बाद वो बोला, "अब मुझे दुकान छोड़ दो, मैडम जी। मैं कमाऊंगा नहीं तो खाऊंगा क्या?" बहुत मना करने पर भी जब वो नहीं माना तो मैं उसे उस चाय के चूल्हे के पास छोड़ आई। वो फिर से चाय पिलाने लगा। वो अपने काम में लगा रहा और मैं अपने काम में लगी रही। वो फिर मुझे दिखाई नहीं दिया। मैंने पूछताछ की कि बचवा कहां है? पता चला कि वो बीमार है। बुखार आ गया है। और अपनी कार में है। मैंने सोचा कि किसी के यहां नौकरी कर ली होगी और उनकी गैराज में रहता होगा। मैंने उसके पास जाने की ज़िद की। चाय वाला मुझे एक मोटर मैकेनिक की वर्कशॉप में ले गया और एक टूटी-फूटी कार के पंजर के पास खड़ा कर दिया। बचवा बेहोश पड़ा था। उसका माथा तवे-सा तप रहा था। मैं डॉक्टर को बुला लाई थी। डॉक्टर ने जांच-पड़ताल की और कहा कि हालत गंभीर है। उसने टीका लगाया और चार-चार घंटे बाद दवाई देने को कहा। मैं छः-आठ ईंटों की कुर्सी बनाकर उस पर बैठ गई। जैसे-जैसे में उसे दवा खिलाती उसका बुखार बढ़ता जाता। वो कुछ बुदबुदा रहा था, "मैडम ...." ये देखिये मेरा बंगला.......। ये रही हरी-हरी घास........। ये आलीशान कमरे........। ये गलीचा.......। ये तेज़ बिजली के लट्टू.......। ये संगमरमर का बाथरूम........और ये रहा पूल...........। मैं नहाऊंगा........। और ये देखिये मैडम........। ये चमचमाता कुर्ता-पजामा.....। अब मैं आपके घर रहूंगा। आपके हाथों में बहुत प्यार है। मैंने उसे उठाया और गाड़ी में लिटा दिया। उसे मैं घर ले आई। मैंने उसे बिस्तर पर लिटा दिया।

मैंने उसे रेशमी चादर ओढ़ायी। उसका बदन अब भी तप रहा था। दो घंटे तक मैं उसके माथे पर बर्फ की पट्टियां करती रही। वो फिर बड़बड़ाने लगा था। थोड़ी-थोड़ी देर बाद उसे मैं ग्लूकोस देती रही। उसका बुखार धीरे-धीरे कम होने लगा और मैं रात-भर जगती रही। उसकी सेवा करती रही। सवेरे उसने आंखें खोलीं और मुझसे कहा "मैडम आप!" मैं सिर्फ उसे देखती रही। शायद यही उसका इलाज था।

8

सुंदरपुर की कुटिया

कई साल बाद आज मैं फिर सुंदरपुर में हूं। बहुत छोटा-सा गांव है ये। गांव के नाम दस-बीस कच्चे-पक्के घर, गोबर-मिट्टी से लिपी-पुती मुंडेरें, मुंडेरों पर बैठे कांव-कांव करते कौवे, दूर-दूर तक फैले गाजर-मूली की क्यारियों वाले खेत, खेत के बीचों-बीच एक वटवृक्ष, वटवृक्ष से सटा मीठे पानी का कुंआ, कुंए के पास बैठी चांदी के झुमके पहने एक औरत, औरत के हाथों में खेत से निकली, मिट्टी में सनी ताज़ी-ताज़ी मूलियां। वह औरत मेरे हाथों में मूलियां थमा देती है और मैं चुपचाप कभी उसे और कभी वटवृक्ष को देखती हूं।

मुझे आज भी अच्छी तरह याद है जब मैं पन्द्रह बरस पहले सुंदरपुर गई थी। वहां गेरूआ पहने मौनी बाबा एक कुटिया में रहा करते थे। मिट्टी ऐसी मुलायम कि मुलायमित की दुनिया चली आए। मौनी बाबा ने दो मोटी रोटियां पकाईं और एक मुझे खाने को दे दी। रोटी का स्वाद ऐसा कि जो छत्तीस व्यंजनों में भी न हो। तब मौनी बाबा ने मुझे एक मूली थमा दी थी; थमा दिए थे गेंदे के फूल। उन दोनों चीजों में मुझे जो अपनापन मिला वो शायद किसी से भी नहीं मिला। वह अपनापन तो एक संत और फ़कीर का था। संसारी लोगों का अपनापन तो छलने वाला होता है।

दस बरस पहले भी मैं सुंदरपुर आई थी शायद उस फ़कीर का अपनापन मुझे बुलावा दे रहा था। जब मैं वहां पहुंची तो न तो वहां कुटिया थी और न ही कुटिया में रहने वाला फ़कीर। मुझे बताया गया कि पता नहीं वो फ़कीर कहां चला गया। फ़कीर के साथ-साथ उसकी कुटिया का भी कहीं अता-पता नहीं था। उस अहाते में तीन-चार पक्के कमरे और कमरों के साथ एक

गऊशाला जिसमें तीन-चार गायें थीं। लाल, नीली, पीली, हरी झण्डियां जिन्होंने आस-पास को ढक रखा था। बीस-तीस लोगों की भीड़ जो हवन-कुंड को घेरे खड़ी थी। पूछने पर पता चला कि थोड़ी ही देर में चार बच्चों को वानप्रस्थ की दीक्षा दी जाने वाली है। "बच्चों को"—मैंने उनसे पूछा। "हां हां बच्चों को"। "एक छः का, एक आठ का, एक दस का और एक बारह का"—एक स्वर सुनाई दिया। मैं हैरत में पड़ गई। वानप्रस्थ की दीक्षा तो पचास वर्ष के बाद दी जाती है। बात मेरे गले से नीचे नहीं उतरी। मैं तमाशा देखने के लिए वहीं खड़ी हो गई। थोड़ी देर में एक लंबी दाढ़ी वाली प्रौढ़ काया अपने चारों मूंड-मुंडाए बच्चों को लेकर हवन-कुंड के पास आए। हवन-कुंड में अग्नि जलाई गई और बच्चों को दीक्षा दी जाने लगी। अभी दीक्षा चल ही रही थी कि मेरे साथ खड़े व्यक्ति ने कहा—"स्साला खिलाने को कुछ है नहीं और ये बच्चों को वानप्रस्थी बनाता है। खिला नहीं सकता था तो बच्चों को पैदा क्यों किया।" मैं मूक श्रोता की तरह खड़ी रही। पता नहीं कौन-सी गोल-गोल संस्कृत में पंडित बोल रहा था जो हिंदी में मेरी समझ में आया उसका अर्थ था कि "मैं पराई औरत को माँ के समान समझूंगा, पराई दौलत को मिट्टी ढेले के समान समझूंगा।" वे चारों बच्चे मिलकर बोल रहे थे कि "हम पराई औरत को माँ के समान समझेंगे और पराई दौलत को मिट्टी के ढेले के समान समझेंगे।" अब तो मैं भी उस बाप को गाली देना चाहती थी कि जिस बच्चे को मालूम ही नहीं कि औरत क्या होती है वही उसे माँ समझने की बात कह रहा था। जिस बच्चे को ये भी नहीं मालूम कि दौलत क्या होती है वह उसे मिट्टी के ढेले के समान समझने के लिए कह रहा था। आसपास के कुछ चेहरों पर गहरी उदासी थी और कुछ चेहरों पर खुशी। मैं कहना चाहती थी कि तुम क्यों खुश हो रहे हो। अपने बच्चों के मूंड-मुंडवा कर तुम उन्हें वानप्रस्थी क्यों नहीं बना देते। मैं धरती पर तब उतरी जब उन बच्चों से यह कहा जा रहा था कि अब तुम सबसे भिक्षा मांगो। चारों बच्चे अपना-अपना कटोरा लेकर सबके पास जाते और कटोरों में अठन्नी, चवन्नी की खन-खनाहट सुनाई पड़ती। जब कटोरों वाले हाथ मेरे सामने आए तो मैंने उन्हें धमकाते हुए कहा—"स्सालों भिखारी बनोगे।" उनके हाथों से कटोरे छीनकर दूर फेंक दिए और गाड़ी में बैठकर दिल्ली आकर सांस ली।

अब की बार वहां बैठे चौकीदार से मैंने पूछा कि वो बच्चे कहां हैं जिन्हें कुछ वर्ष पहले वानप्रस्थी बनाया गया था। इससे पहले कि वो कुछ कहता एक रौबीली काया मेरे सामने आकर खड़ी हो गई और बोली—"मैं बताता हूं

कि वो बच्चे कहां हैं। वे साले सब भाग गए किसी गाड़ी वाले के साथ। पता चला कि वे चाय की दुकान पर बर्तन मांजते हैं। वे कहां संस्कृत पढ़ते। बाप तो फिर भी आधी रोटी डाल देता था। यहां तो गाजर-मूली खानी पड़ती थी।"

मैंने उस काया को कुछ भी नहीं कहा। मैंने देखा कि वट वृक्ष के पत्ते मटमैले हो गए हैं और कुएं का जल सूख गया है।

9

परशाद

मेरे पड़ोस में एक बावला-सा लड़का रहा करता था। 'था' इसलिए कह रही हूं कि बात कुछ पुरानी हो गई है। उसका मन न पढ़ाई-लिखाई में लगता, न घर के काम में। वह दिन-भर एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी, और चौथी से पांचवीं गली में भटकता रहता। माँ के बुलाने पर किसी तरह घर आता। आधा खाना खाता और आधा चिड़ियों को चुगा देता। पास-पड़ोस भी उसे बावला कहता था। खजूर के पेड़ की तरह लंबा हो गया था लेकिन अक्ल के नाम पर 'इल्ले-इल्ले'।

एक दिन भगवाधारी साधू उस गली में आया और उस बावले को अपने साथ ले गया। रोती, पीटती, चीखती, चिल्लाती, ढूंढती-ढांढती माँ उस भगवाधारी साधू के पास जा पहुंची। उसने खूब हाय-तौबा मचाई कि मेरे बेटे को तुम क्यों पकड़ लाये।

"तुम्हारा बेटा कहां है? वो तो मोहल्ले भर का हैं। यहां हम सब की सेवा करेगा और खाना खाएगा।" और हट्टे-कट्टे संतों ने माँ को भगा दिया। बावले जैसे कई दूसरे लड़के भी वहां पर थे। मोहल्ले वालों ने कहा कि चलो वहां रहकर कुछ काम करना सीख जाएगा। उधर उन संतों की नज़र बावले जैसे लड़के और लड़कियों पर थी ताकि मुफ्त में काम कराया जा सके। साधु के डेरे पर बढ़ती भीड़ देखकर दूसरी औरतें भी वहां पहुंचने लगीं। किसी को दवा-दारू चाहिए थी और किसी को पैसा, किसी को बेटे की ज़रूरत थी और किसी को मोटर गाड़ी की।

एक दिन की बात है कि एक औरत के साथ चौदह-पन्द्रह साल की लड़की भी चली आई साधु की नज़र उस पर भी पड़ गई। नज़र का जो भी परिणाम हुआ वो सभी का मालूम होता है। आश्रम में खलबली मच गई कि

लड़की माँ बनने वाली है। उस साधू के हाथों के तोते उड़ गये। कैसे किया जाए कि सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। सभी की नज़र उस बावले पर थी। उसे बुलाकर साधु ने कहा—"आ बेटा, बैठ। परशाद खायेगा।" और बावले के हाथों में लड्डु और पेड़े थमा दिए और वह गपगप खाने लगा। फिर साधु ने एक नारियल भी उसके हाथ में थमाया और उससे कहा "ये भी परशाद है। घर ले जा, माँ को भी खिलाना।"

बावला उठने को ही था कि साधू ने कहा कि एक और भी परशाद है तुम्हारे लिए। उस लड़की को बुलाया गया और कहा "ये ले, इसे भी अपने साथ ले जा। तेरे और तेरी माँ के लिए ये बहुत काम करेगी। दो रोटी दे देना बस। और मन हो तो इसके साथ सो भी जाना। और हां, अंधेरा होने के बाद जाना।"

बावले को कुछ समझ में नहीं आया। वो "परशाद-परशाद" कहने लगा। बावला आगे-आगे और लड़की पीछे-पीछे। उसने अपने घर पर दस्तक दी। माँ को नारियल दिया और कहा कि ये परशाद है "और ये लड़की?" "ये भी परशाद है।"

अगली सुबह लड़की की हालत देखकर माँ ने अपना सिर पीट लिया।

10

कहानी सूर्य–देवी की

जापानी पुराण "कौजिकि" से ली गई कहानी जापान में सूर्य को देवी माना गया है और वरूण देवता की बहन भी कहा जाता है कि इस पुराण की रचना सृष्टि के निर्माण से पहले हुई थी।

बहुत पुरानी बात है। जापान के स्वर्ग में बहुत से देवी-देवता रहा करते थे–सूर्य, चन्द्रमा, वरूण, और दूसरे सितारे भी। सभी धरती पर आने के लिए उतावले थे क्योंकि स्वर्ग में रहते-रहते वे ऊब गये थे। धरती पर पहुंचना उनके लिए आसान नहीं था। यदि सूर्य देवी धरती पर उतरती तो पृथ्वी जलकर राख हो जाती और यदि वरूण उतरता तो पृथ्वी पर हवा ही हवा हो जाती। सभी देवी-देवता आपस में झगड़ने लगे कि पहले मैं और पहले मैं। किसी से भी फ़ैसला नहीं हुआ तब सभी देवताओं ने एक सभा बुलाई और सभी ने अपने-अपने तर्क रखे। अंत में देवताओं ने एकजुट होकर यह फैसला किया कि जो सबसे ज़्यादा ताकतवर हो वही धरती पर जाए और धरती पर रहने वाले प्राणियों का भला करे।

सबसे पहले सूर्य देवी को भेजने का निर्णय लिया गया। सूर्य तेज और शक्ति की देवी थी। सूर्य देवी के पास बहुत प्रकाश था। चारों तरफ वह जिधर देखती उजाला ही उजाला हो जाता उसके नजर फिरते ही अंधेरा हो जाता। उसने अपनी एक-एक किरण पृथ्वी पर भेजनी शुरू की। पहली किरण के पृथ्वी पर आते ही वहां पेड़-पौधे उग आए पृथ्वी हरी-भरी हो गई। दूसरी किरण के आते ही सुंदर-सुंदर फूल खिलने लगे। पृथ्वी सुगंध से भर गई। तीसरी किरण के आते ही हर तरह का अनाज पैदा हो गया। सभी की भूख मिट गई। चौथी किरण के आते ही बादल उमड़ने लगे। बादलों से वर्षा हुई

और पूरी पृथ्वी साफ-सुथरी दिखाई देने लगी। इससे नदी, नाले पानी से भर गये। पांचवी किरण के आते ही इंसान खुशी से झूम उठा वह आनंद मनाने लगा, क्योंकि इससे पहले उसने इतनी रोशनी नहीं देखी थी। सूर्य देवी अपनी छठी किरण भी धरती पर पहुंचाना चाहती थी। उसने सोचा मेरी पांचों किरणों से संसार का बहुत उपकार हुआ है। सभी प्राणी मेरे इन पांचों किरणों की जय-जयकार कर रहे हैं। इसलिए मुझे अब अपनी छठी किरण को भी धरती पर भेजना चाहिए। इससे संसार के सभी प्राणी बहुत खुश होंगे। इस तरह सूर्य देवी ने छठी किरण को भी धरती पर भेज दिया। जैसे ही उसने अपनी छठी किरण धरती पर भेजी धरती आग की तरह धधकने लगी। चारों तरफ आग ही आग दिखाई देने लगी। नदियों का पानी सूख गया। चारों तरफ चीख-पुकार मच गई। त्राहिमाम्, त्राहिमाम् करते लोगों ने सूर्य देवी से प्रार्थना की कि हे देवी, तुम अपनी इस किरण को वापिस बुला लो। यह किरण पूरी पृथ्वी को जलाकर राख कर देगी। सूर्य देवी ने पृथ्वी वासियों की यह करूण पुकार सुनी और दया करके अपनी उस किरण को वापिस बुला लिया। सभी लोग फिर से आनंद से रहने लगे झूमने लगे और सब जगह सूर्य देवी की पूजा की जाने लगी। लोग सूर्य देवी के गुण गाने लगे।

एक दिन वरूण घूमता हुआ पृथ्वी पर आया। उसने चारों तरफ सूर्य देवी की ही प्रशंसा सुनी। वरूण सूर्य देवी की प्रशंसा सहन न कर सका। वह सूर्य देवी से ईर्ष्या करने लगा। जब भी अनाज पकता, लोग खुशी में झूमते तो वरूण उस सबको तहस-नहस कर डालता। चारों तरफ आंधी और तूफान से सब कुछ नष्ट हो जाता और लोग परेशान हो जाते। वरूण कहता कि तुम मेरी पूजा करो लेकिन लोग कहां मानने वाले थे। वे सूर्य देवी की ही पूजा करते। इस तरह सूर्य देवी और वरूण का झगड़ा बढ़ने लगा। पृथ्वी पर रहने वाले लोग बहुत परेशान हो गये और सूर्य देवी भी। कहा जाता है कि सूर्य देवी और वरूण बहन-भाई थे। उसका अपना ही भाई उसे दुःखी कर रहा था। सूर्य देवी ने कई बार वरूण को ऐसा न करने को कहा पर वरूण ने उसकी एक न सुनी। एक दिन तंग आकर सूर्य देवी किसी गुफ़ा में जा छिपी। गुफ़ा में छिपते ही पृथ्वी पर अंधेरा छा गया। अब किसी को कुछ दिखाई नहीं देता था। चारों तरफ चीख-पुकार मच गई। लोग त्राहिमाम्-त्राहिमाम् करने लगे। सभी हल्ला-गुल्ला और धक्का-मुक्की करने लगे। इंसान के अलावा पशु-पक्षी और दूसरे प्राणी भी त्राहिमाम्, त्राहिमाम् करने लगे। यहां तक कि समुद्र में रहने वाले जीव भी बाहर निकल आये और राक्षस भी पुकार-पुकार कर कहने लगे—"हे सूर्य देवी, तुम हमारी रक्षा करो" लेकिन सूर्य देवी नहीं मानी। उसने कहा—"जब तक मेरा भाई मुझे परेशान करता रहेगा, मैं इस गुफ़ा से बाहर नहीं आऊंगी।"

वरूण को अपनी गलती का अहसास हुआ। वह धरती पर उत्पात मचाने के बाद स्वर्ग चला गया। वहां उसने अपने पड़ोसी नर्क में रहने वाले राक्षसों से युद्ध किया। एक बार उसने सभी राक्षसों को मार डाला और उनके सेनापति से उसकी तलवार छीन ली। तलवार हासिल करके वह बहुत खुश हुआ। उसने सोचा कि मैं यह तलवार अपनी रूठी हुई बहन को दे दूंगा तो वह बहुत खुश होगी। वह दौड़ता हुआ उस गुफ़ा की ओर गया जहां सूर्य देवी रहा करती थी। वरूण ने अपनी बहन से माफ़ी मांगी और वह तलवार अपनी बहन को दे दी। उसने सूर्य देवी से संसार की भलाई के लिए गुफ़ा से बाहर आ जाने की प्रार्थना की। इस तरह सूर्य देवी बहुत खुश हुई और गुफ़ा से बाहर निकल आई।

अब चारों तरफ़ उजाला फैल गया। लोग खुशियां मनाने लगे। जापान का पहला सम्राट भी वहां पहुंच गया। सूर्य देवी ने कहा—"मैं इस तलवार का क्या करूंगी? इसे तो राजाओं, महाराजाओं के पास होना चाहिए। मेरे पास तो मेरा उजाला ही काफी है।" सूर्य देवी ने यह तलवार जिमु नामक सम्राट को दे दी और कहा—"इस तलवार को हमेशा अपने पास रखना। जब तक यह तलवार तुम्हारे पास रहेगी, तुम्हारे राज्य की रक्षा होती रहेगी।" इतना कहते ही सूर्य देवी फिर से स्वर्ग की ओर चली गई और अपनी एक-एक किरण पृथ्वी पर भेजती रही। वरूण भी अब तक एक अच्छा, सीधा-सादा देवता बन गया।

वह दिन और आज का दिन। जापान में आज भी तलवार जापान सम्राट की सत्ता का प्रतीक मानी जाती है।

11

टीन–टप्पर

मैं अभी–अभी दावत से लौटी थी और धम्म् से आराम कुर्सी पर धंस गई थी। सभी घटनाएं चलचित्र की तरह उद्घटित हो रही थी। "आपसे मिलिए यह मेरी माताजी हैं इन्हीं के आशीर्वाद से........!"

"छोड़ो यह सब बकवास तुम्हारा बाप तो एक है और माता जी ढेर सारी" राजेश की नवविवाहिता पत्नी ने आंखें तरेरते हुए कहा था। मैं उल्टे पांव लौट आई थी। माता जी–माता जी कह कर राजेश मेरे पीछे दौड़ा था लेकिन उसकी आवाज़ "अश्वत्थामाँ हताः नरो वा कुन्ज रोवा" की तरह बाजे गाजे में दब गई थी।

राजेश मेरे लिए छात्र जैसा था। कक्षा में मैं पढ़ाकर चुपचाप लौट आती थी। एक दिन फोन पर उसने अपना परिचय देते हुए कहा था–"मैं आपसे पढ़ता हूं मैडम आपसे मिलना चाहता हूं"। मैंने कहा "क्यूं" "मैं इस दुनिया में बिल्कुल अकेला हूं आपके सिवा मेरा और कोई नहीं है।" "ठीक है आ जाओ" मैंने तो ऐसा कोई काम नहीं किया कि जिससे उसे अपनेपन का अहसास न दे। दूसरे दिन निश्चित समय पर आकर उसने मुझसे ढेर सारी बातें की थी। गांव की, घर की, खेत की–खलिहान की, रहट की–कुएं क़ी, दादा की, दादी की। लेकिन माता–पिता की बात में टाल गया था। मुझसे जितना भी कुछ हो सका मैंने उसकी बातें ध्यान से सुनी बाद में वह मेरे यहां लगभग रोज आने लगा। चरण छू कर कहता "मैं आपका आशीर्वाद लेने आया हूं"।

"मैं तो बहुत साधारण इंसान हूं आशीर्वाद तो भगवान देते हैं"। लेकिन उसका आना बराबर जारी रहा। मेरा उससे एक कोमल तंतु–जुड़ गया था। मैं भी उसकी राह देखने लगी थी।

परीक्षा परिणामों में उसे उतने अंक प्राप्त नहीं हुए जितने अंकों की उसे अपेक्षा थी जब वो मेरे पास आया तो वह बहुत खिन्न था। "मैंने तो सोचा था कि आपके आशीर्वाद से मुझे बहुत अच्छे अंक प्राप्त होंगे और मैं किसी कॉलेज में प्रवक्ता बन जाऊंगा"। मैं चुपचाप उसकी बातें सुनती रही। उसके बाद वह तो हफ्तों तक मेरे पास नहीं आया। "क्षमा कीजिएगा मैं आपके पास आ नहीं सकता। शाम को यार-दोस्त घर पर आ जाते हैं निकल नहीं पाता।" इसके बाद वह छः महीनों तक मेरे पास नहीं आया। और वह कभी बरसात की, कभी धूप की, कविताओं की, दोस्तों की बातें करता रहा। "तुम पहले भी तो बरसात में भीगते हुए मेरे पास आया करते थे।" मैं सिर्फ इतना ही कह सकी। उस दिन मैं बहुत खिन्न थी और उससे बिना बात किए सोफ़े पर बैठ गई थी। और वह भी बिना चरण-स्पर्श किए लौट गया था। साल भर तक मुझे उसकी कोई ख़बर नहीं मिली। उसके किसी मित्र से पता चला कि किसी सुनसान रास्ते में उसने एक कोठरी डाल ली है। आसपास के झुग्गी-झोंपड़ी वालों के लिए चोरी की बिजली और पानी का इंतजाम करवाता है। उनके राई जितने दुःख को पहाड़ जितना बनाकर अख़बारों में छपवाता है। उनके लिए दवा-दारू का इंतजाम करवाता है। चुनाव आने वाले हैं यदि वह उम्मीदवार बना तो निश्चित जीत जाएगा। और मैं कुछ नहीं बोली थी। चार बरसों तक मुझे उसका कोई अता-पता नहीं चला। वह अपने विवाह का निमंत्रण पत्र देने आया था "जरूर, आइऐगा माता जी आपके आशीर्वाद के बिना.........।" उसने बातों ही बातों में बताया कि मैं विधायक बन गया हूं और विवाह की घटना तो आप सबके सामने है ही। शादी के एक हफ्ते बाद फिर वो मेरे यहां आया था मिठाई और फलों का टोकरा लेकर साथ में साड़ी और दूसरा सामान भी। "मेरी पत्नी भी विधायक है माता जी। आपको कोई काम हो तो बताइगा। आपने तो मेरा कोई काम नहीं किया। फिर भी आपने मुझे बरसों तक खिलाया-पिलाया है वही कर्ज उतारने के लिए अब मैं आपके पास आया हूं"। उसने अपने ब्रीफकेस में से नोटों की कुछ गड्डियां निकालते हुए मेरी तरफ बढ़ाईं। "मैं कहीं से भी तुम्हारी माता जी नहीं हूं। मैं एक अध्यापक हूं और मेरे हाथ में न्याय की कलम रहती है और हमेशा रहेगी उठाओ ये अपना टीन-टप्पर और चले जाओ यहां से"। इससे पहले कि वह कुछ कहता मैंने अपने ड्राइवर से उसका लाया सारा सामान उसकी गाड़ी में रखवा दिया था और उसके नोट उसके हाथ में ही रह गए थे।

12

नाम पते

उस दिन क्लास लेकर स्टॉफ रूम में लौटी ही थी कि अपनी पास वाली कुर्सी पर किसी युवती को बैठे हुए देखा वह कमरा खाली था और मैं किसी किताब में उलझ गई थी। घण्टा बजने पर वह युवती मुझसे मुख़ातिब होकर बोली "मैडम शायद आपको याद न हो कि मैं आठ बरस पहले आपसे इसी कॉलेज में पढ़ा करती थी, मुझे आपसे बहुत जरूरी काम है।"

"तो तुम्हें घण्टा इंतजार करना पड़ेगा।" मैंने कहा।

"चलिए मैं आपके घर आ जाऊं तो।" "मैं अपने घर में किसी से नहीं मिलती।" और मैं जल्दी से अपनी क्लास में चली गई। जब मैं लौटी तब भी वो बैठी हुई थी। मैंने कहा "कहो"। "मैडम मेरे माँ-बाप बीमार हैं और पिता की नौकरी छूट गई। मैं काम की तलाश में भटक रही हूं"। पीछा छुड़ाने के लिए मैंने उसे दो-तीन नाम पते दिए और कहा मेरा हवाला देकर, इनसे मिल लो और ईश्वर की कृपा से उसे 'लीव वैकेंसी' पर एक नौकरी मिल भी गई। तीन महीने बाद फिर वह सड़क पर थी। उसके बॉस ने मुझसे कहा कि तुमने कैसी पागल लड़की मेरे पास भेज दी थी। उसे मैं जहां भी भेजती वह कोई न कोई कारनामा कर मुझे परेशान करती। फिर उसने मुझसे कहा—"मैडम मेरे लिए कोई काम ढूंढिए।" "जब मैंने अपने लिए कोई काम नहीं ढूंढा तो तुम्हारे लिए कैसे ढूंढू। ईमानदारी से काम करोगी तो काम तुम्हारे पीछे दौड़ते चले आएंगे।"

जब भी वो फोन करती काम-काम की रट लगाती। तंग आकर मैंने उससे कहा कि तुम मेरे साथ काम कर सकती हो। मैं डिक्टेशन दूंगी और तुम लिखोगी। उसने हामी भर दी। दो-चार दिन तो ठीक-ठाक चला लेकिन बाद में उसका असली रूप मेरे सामने आने लगा और अजीबो-गरीब बातें मुझसे

करने लगी कि कभी वह कहती मुझ पर उपन्यास लिख दो, कभी वो कहती कि फलां आदमी मुझे बहुत अच्छा लगता है मेरी शादी करा दो, कभी वो कहती कि चार्टस बस का ड्राइवर मुझ पर फिदा हो गया है और तब तक बस नहीं चलाता जब तक मैं बस स्टेंड पर पहुंचं नहीं जाती, कभी वो कहती कि मैंने बस में ही खाना खा लिया है, कभी वह अपनी माँ की बीमारी की बात करती इस तरह के व्यर्थ के व्यवहार से मैं तंग आ गई थी। वह हर रोज पैसों की फरमाइश करती जबकि मैंने कह दिया था कि मैं महीने के बाद तुझे पैसे दूंगी। बाद में मुझे पता चला कि ना तो उसकी माँ बीमार है और ना ही उसके पिता की नौकरी छूटी है। भाई का भी अच्छा-खासा धंधा चल रहा है।

मेरे यहां आने वाले हर व्यक्ति से इस कदर ऊल-जलूल बातें करती कि वे सभी मुंह पर हाथ धर कर मुस्कराने लगते। मेरी प्रतिष्ठा पर धूल जमने लगी। एक बार वह रो-रोकर गिड़गिड़ाने लगी कि उसके सिर पर एक भारी कर्जा है उसे 10 हजार रूपयों की सख्त जरूरत है। मैं मरती क्या न करती पसीज कर मैंने उसे पैसे दे दिए। इस बात को एक साल हो गया वह दिन और आज का दिन न तो उसने पैसे लौटाए और ना ही कभी घर पर आई। जो नंबर उसने मुझे दे रखा था फोन करने पर पता चला कि इस नाम की कोई भी लड़की यहां नहीं रहती। जिन मित्रों के नाम-पते मैंने उसे दिए थे उन सभी से वह पैसा मूंडकर चंपत हो जाती। मेरा लिहाज कर मित्रों ने इस बाबत उससे कोई बात नहीं की। और मेरे सामने कई सवालिया निशान (?) क्या मुझे उसे पैसे देने चाहिए थे? मुझे अपने मित्रों के नाम-पते उसे देने चाहिए थे?

शायद नहीं!

13

एक थी अनूप

मेरी ज़िंदगी में खुशनुमा दोस्त हमेशा मेरे साथ-साथ चलते रहते हैं। जब मैं सितारों जड़ी ओढ़नी ओढ़ती हूं तब भी और जब मैं ओस कणों की माला पहनती हूं तब भी, जब मैं पीली सरसों के खेतों में बनी पगडंडी पर चलती हूं तब भी, जब मैं अथाह सागर के बीच मझधार डूबती-तिरती हूं तब भी और जब मैं हिमाच्छादित चोटियों पर जाती हूं तब भी और जब मैं बाबुल के घर से दूर रहती हूं तब भी और जब मैं ननिहाल का फुम्मन वाला पशमीनी चादर ओढ़ती हूं तब भी और जब भाई मेरे पैरों पर चुभे कांटे निकालता है तब भी और जब मैं सूनी-सूनी उदास आंखों से अपने प्रिय का इंतज़ार करती हूं तब भी और गृहस्थी के जुए का बोझ कंधे पर लादे-लादे थक कर बैठ जाती हूं तब भी और जब अपने सागर पार रहने वाले दोस्तों के ख़तों को बार-बार पढ़ती हूं तब भी और जब आधी-आधी रात अपने सफ़र के सुख-दुःख को दीये की लौ में बांचती हूं तब भी। मुझे लगता है कि उम्र के तमाम लम्हों में मेरे ये खुशनुमा दोस्त मेरे साथ-साथ हैं मेरे पास-पास हैं। क्या आप भी मेरे इन दोस्तों से मिलना चाहेंगे? शायद हां। शायद नहीं।

मैं चाहती हूं कि आप मेरे इन दोस्तों से वाकिफ़ हों। वाकिफ़ होते-होते धीरे-धीरे आप भी उनके दोस्त बन जायेंगे। उनके दोस्त बनने का मतलब है कि आप मेरे दोस्त बन जायेंगे। एक-एक करके मैं आपको इनसे मिलवाती चली जाऊंगी और आपको लगेगा कि ये दोस्त मेरे हमसफ़र हैं, मेरी कलम के हमसफ़र। ये दोस्त केवल एक शहर में नहीं रहते, एक समय में भी नहीं रहते, एक उम्र में भी नहीं रहते। बारी-बारी से आते और अलविदा कहकर चले जाते हैं, हमेशा के लिए मेरे दिल में कभी न ख़त्म होने वाला दर्द छोड़कर।

सबसे पहले में आपकी मुलाकात एक किशोरी से करवाती हूं जिसका नाम है अनु। किशोरी कहने से आप समझ गये होंगे कि अनु कैसी लड़की हो सकती है? खास उम्र का ख़ास तक़ाज़ा। जब वह धीरे-धीरे चलती तो हवा थम जाती, जब पायजेब पहन ठुमक-ठुमक चलती हो शहनाइयां बज उठती, जब मृगी-सी सहमी-सहमी निगाहों से आसपास देखती तो चोरी करते पकड़ ली जाती, जब वह धम्म-धम्म कर सीढ़ियां चढ़ती और मेरे पीछे आकर अपनी खरगोश-सी नर्म हथेलियों से मेरी आंखें मूंद कर खिलखिला पड़ती तो मेरे इर्द-गिर्द छोटी-छोटी घण्टियां बज उठती। वह यूं ही मेरे आसपास ऊपर-नीचे फुदकती रहती। बात-बेबात हंसने लगती, बात-बेबात गुनगुनाने लगती, बात-बेबात चाक से फर्श पर किसी का नाम लिखने लगती। वह बिना बात रूठने लगती और बिना बात मलमली ओढ़नी ओढ़ खटिया पर सोने का बहाना करती और फिर अचकचा कर बिना बोले बतियाए नीचे उतर जाती। अनु मेरे पड़ोस में रहती थी और मैं उसके पड़ोस में और हम दोनों एक-दूसरे के पड़ोस में। पड़ोस था कि एक दिलकश दास्तान जिसे मैं आज तक भी नहीं समझ पाई। मेरी दास्तान तो क्या होगी। सबसे पहले मैं अनु की दास्तान आपको सुनाना चाहती हूं।

उम्र के उस दौर में अनु सोचती कि कोई उसे जी भर कर देखे। वह कभी सीढ़ियों में छुप जाए, कभी कमरे में। कभी बालों में कंघी-पट्टी कर घंटों दर्पण निहारे। माँ से आंखें चुराकर एक खूबसूरत लाल बिंदी माथे पर सजाये और घुटनों पर बाहें रखे घंटों शर्माती रहे। उस इलाके में "कोई तो बहुत सारे थे लेकिन उनके पास अनु को ज़ी भरकर देखने के लिए निगाहें नहीं थीं। मैं समय तो नहीं बता पाऊंगी लेकिन इतना ज़रूर बता पाऊंगी कि अचानक ज्वार भाटे की तरह एक लड़का उसी मकान में किराएदार बनकर रहने लगा था। सीढ़ियां चढ़ते-उतरते वक्त आलोक उसे देखता या नहीं देखता ये तो मैं नहीं जानती पर इतना ज़रूर जानती हूं कि अनु को हमेशा महसूस होता कि आलोक उसे चोर निगाहों से देख रहा है। अनु का हाल ये था कि वह सब्जी जला बैठती या रोटी सेंकते वक्त अपनी उंगलियां। वह सोचती कि आलोक उसकी जली हुई उंगलियों को देख उसे दवाखाने ले जाये पर ऐसा कुछ भी नहीं होता। वह किताब खोले बैठी रहती। पढ़ना तो दूर वह पन्ना तक नहीं पलटती। कॉपी-पेंसिल लेकर जब वह लिखने बैठती तो पन्ना फड़फड़ाता रहता और पेंसिल उसकी उंगलियों में तड़पती रहती। सब कुछ खाली-खाली रहता। वह कुछ भी नहीं लिख पाती। वह लिखना चाहती थी एक ही नाम "आलोक"। वह चाहकर भी वह नाम लिख नहीं पाती। किसी ने लिखता देख लिया तो? किसी ने पढ़ लिया तो? कोई क्या कहेगा? कैसी बदचलन लड़की

है? लड़के का नाम लिखती है। यदि बात जंगल में आग की तरह फैल गई तो सभी उस पर थू-थू करेंगे। खासकर माँ, तमाचे जड़-जड़ कर उसके गाल लाल कर देगी। उसे लगता कि उसकी इस प्रेम-कहानी को घर के भीतर आने-जाने वाला हर व्यक्ति पढ़ रहा है। सामने वाली खिड़की से हर कोई उसकी इस खुली किताब को पढ़ रहा है। पर वह क्या करे? प्रेम किया नहीं जाता वह तो हो जाता है। फिर सोचती गोली मारो इस होने जाने को। माँ ने यदि घर से निकाल दिया तो? सबसे ज्यादा डर उसे मुझसे लगता। कहीं मैंने उसकी कहानी पन्नों पर उतारकर अख़बार में छपने के लिए भेज दी तो? लेकिन उसका डर बेबुनियाद था। कच्ची उम्र के कच्चे प्यार की कहानी हर कोई कहता-सुनता है इसमें नया क्या है? पता नहीं प्यार के बेइंतहा नश्तर मेरे आर-पार होकर मुझे लहूलुहान कर चुके होंगे। वह लहू आज भी मुझे अपने में डुबो देता है। फिर अनु तो मेरे सामने बच्ची थी। वह यूं ही गुमसुम बैठी रहती और सीढ़ियां चढ़ते दो कदमों की आहट सुनने को बेचैन रहा करती। उसे लगता कि आस-पास का हर शोर अपनी सांस थाम ले ताकि कदमों की साफ-साफ आवाज़ उसके कानों को छू ले। जहां तक मुझे लगा शायद आलोक भी उसे देखने को बेचैन रहा करता लेकिन लड़का है लड़कों का क्या भरोसा? वे तो एक साथ कई लड़कियों को देखते रहते हैं। न करने वाली हरकतें करते हैं लेकिन आलोक ऐसा नहीं था। जैसी नीची निगाहें करके वह घर से बाहर निकलता वैसे ही भीतर भी आ जाता। वह इस बात को अस्वीकार नहीं कर सका कि कोई लड़की चोर निगाहों से उसे देख रही है। अनु के देखने पर शायद वह भी दस बार साबुन से मुंह धोकर बीसियों बार दर्पण में देखता। उन दोनों की प्रेम-कहानी किसी भी होंठ तक नहीं पहुंची थी। सब कुछ भीतर-ही-भीतर चलता रहा। बिस्तर पर करवटें बदली जाती रहीं। नींद में होंठ मुस्कुराते रहे और आंखें सपने देखती रहीं। अनु इन रंग-बिरंगे सपनों में डूबती-तिरती रही और उसका डूबना मुझे आज तक बांधे रहा और जब आप भी उसके बंधन की कहानी पढ़ेंगे तो आप भी किसी रेशमी डोर में बंध जाएंगे।

स्कूल जाते वक्त अनु के पैर ज़रूर स्कूल की ओर चल पड़ते लेकिन उसकी आंखें आलोक को देखने में लगी रहती। उसका मन सोचता काश! आलोक आ धमकता और कहता "छोड़ो ये स्कूल-वकूल का चक्कर। चलो साथ-साथ मोंटा की पहाड़ियों तक चलें और कांटों की झाड़ियों में लाल-पीली बेरियां तोड़-तोड़ कर खाएं। पर ऐसा कुछ नहीं होता और वह यंत्रवत् स्कूल में खड़ी रहती और दूसरी लड़कियों के साथ हाथ जोड़कर सुबह की प्रार्थना करने में मशगूल हो जाती। एक-एक करके सभी घंटे गुजर ज़ाते। आधी छुट्टी

के बाद पूरी छुट्टी का घंटा भी बज जाता और उसे अपने मन का गणित समझ में नहीं आता। टीचर कुछ बोलती और वह लिखती कुछ। लड़कियां कुछ कहती और वह सुनती कुछ आलम यह कि वह हिंदी की क्लास में अंग्रेजी की किताब खोलती और हिसाब की क्लास में ज्योग्राफिया पढ़ती। वह बेमन से घर की ओर लौटती। उसे किसी न किसी चौराहे पर अपने दोस्तों के साथ आलोक खड़ा मिल जाता और वह नीची निगाहें कर जल्दी से आगे निकल जाती। वह यही सोचती कि हो न हो, आलोक उसी की बाबत बात कर रहा होगा। कह रहा होगा कि मैं इस खूबसूरत लड़की को प्यार करता हूं। बहुत-बहुत प्यार और उसके दोस्त ठहाका लगाकर उससे कह रहे होंगे कि छोड़ो ये प्यार-व्यार, अब गये मजनुओं के ज़माने। पर यह तो उसके मन की उपज है। वह किसी और लड़की की बात भी तो कर सकता है। किसी दूसरी लड़की की बात सोंचती ही वह कांप उठती और सौतिया डाह से जल उठती और कहती कि आने दो उस कलमुंही को। उसके बाल नोचकर उसका मुंह लहू-लुहान कर दूंगी। इसी उधेड़बुन में चलते-चलते वह घर पहुंच जाती और उसे पता ही नहीं चलता। वह कब जूते उतारती और कब बिस्तर पर पड़ जाती। माँ झल्लाकर कहती—आ गई महारानी। कौन-सा काम करके आई है? दो पन्ने क्या पलट लिए पंडिता बन गई। अरे भाई! कुछ साग-सब्जी ला। चूल्हे में हाथ बंटा। छोड़ो ये पोथी पन्ने का खेल। इंसानियत से रहो। माँ उसे झकझोरती, बेमन से खाना खाने को पूछती और वह बेमन से न खाने का बहाना करती। वह सोचती कि काश माँ मुझे समझ पाती। पर माँ को क्या। वह तो कोल्हू के बैल की तरह गृहस्थी में जुती रहती है और अनु माँ की हर बात अनसुनी कर देती है। वह क्या सभी लड़कियां इस उम्र में ऐसा ही करती हैं। जो उन्हें न करने के लिए कहा जाए वह करना उनके लिए ज़रूरी हो जाता है। और वह यूं ही किताब खोलकर बैठ जाती और उसके मन का कपोत आलोक के इर्द-गिर्द गुटर-गूं गुटर-गूं करने लगता। मन की छोटी-छोटी फुदकती आंखें देखने लगती कि शायद आलोक भी किताब खोलने के बहाने यही सब कर रहा होगा। वह भी छत पर जाकर सुखाए गए कपड़ों को उतारते समय मेरे बारे में सोच रहा होगा। कितना अच्छा होता यदि वह इस समय इसी छत पर होती और वह उसे बाहों में भर लेता। इस समय तो इस छत का बादशाह मैं ही हूं। अम्मा, बाबूजी कोई भी नहीं हैं घर पर। नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है। उसकी माँ तो घर पर है। छत पर न आए तो न सही। वह सब्जी लेने बाज़ार चली जाए और मैं उसे सीढ़ियों में ही दबोच लूं। वक्त वहीं ठहर जाए। बाज़ार से लौटते वक्त मैं उसका झोला उठा लूं ताकि उसकी नाजुक और पतली कमर लचक न खा जाए। यह सब अनु का मन ही उससे बतियाया

करता। उसके मन के बारे में वह कुछ भी नहीं जानती थी। महज कल्पना करती रहती थी। वैसे भी लड़कियां इस तरह की उड़ानें भरना ज़्यादा पसंद करती हैं और सूरज की तेज़ धूप लगने पर जले-अधजले पंखों के साथ ज़मीन पर आ गिरती हैं।

और मेरी पैनी नज़र कभी उनके चेहरों पर जा टिकती और कभी उनके हाव-भाव पर। मेरा मन होता कि उन दोनों को झकझोर कर कहूं कि अरे बचुओ, मैं सब जानती हूं। भले ही तुम्हारे घर में रहने वाले माँ-बाप न जानें। पर जान कर भी क्या होगा? उन पर पाबंदियां लग जाएंगी। अनु बाज़ार नहीं जायेगी और आलोक अपने दोस्तों के साथ बतिया नहीं पाएगा। और दोनों अपने-अपने लालकिलों में कैद हो जाएंगे। मैं डरती हूं कि उनके ये कैदख़ाने उनके लिए ताउम्र न बन जाएं। इसी तरह वक्त चलता रहा और मेरी कलम भी, तेज चाल से चलती रही और मेरे खाली वरकों पर उन दोनों की तस्वीरें उभरती रहीं।

अनु अपने मन की बात कितना कह पाती यह तो मैं नहीं जानती लेकिन उसकी आंखें सभी बातें कह देती। अभी हलाहल मदभरे श्वेत श्याम रतनार नेत्र कभी न खत्म होने वाली कहानी कह जाते और उसे समझने वाला कोई नहीं होता। मैं उसके नेत्रों की भाषा खूब पढ़ती रहती। ऐसी भाषा जो प्यार में पगी रहती है। जहां तक आलोक का सवाल था वह मेरी ओर देखता तक नहीं था। वह डरता था कि कहीं मैं उसके मन की बात का ढिंढोरा न पिटवा दूं और मैं सोचती कि बीच चौराहे पर खड़े होकर तमाचों से उसका मुख लाल गुलाल कर दूं और कहूं कि अरे मूर्ख, जब प्यार करते हो तो उसका इज़हार क्यों नहीं करते। दब्बू कहीं के। शीरीं-फरहाद की तरह तुम दोनों का नाम भी इतिहास के पन्नों पर अमर हो जाता। शायद वह किसी भी तरह का इतिहास नहीं जानता था। जानता था तो दोस्तों के साथ फुसफुसाना। मुझे लगता रहता कि प्यार के नाम पर उसके भी हाथ-पैर ठंडे पड़ जाते होंगे और वह पत्तों की तरह कांपने लगता होगा।

रोजी-रोटी की तलाश में जब मैं कुछ वर्षों के लिए विदेश जा बसी और वहां की रंगीनियां देखने में मशगूल हो गई तो कभी-कभार मुझे उन दोनों पड़ोसवासी मासूम किशोरों की याद आ जाती लेकिन धीरे-धीरे उनके चेहरे धुंधले पड़ने लगे। मैं पूरी तरह विदेशी संस्कृति में डूब गई। मुझे लगता कि भारत के किशोर जो बात कहने में कई बरस लगा देते हैं वही बात कहने में पश्चिम के किशोर एक मिनट भी नहीं लगाते। कितना फासला होता है इन दोनों तरह के मनों में। धीरे-धीरे मैं उन दोनों को पूरी तरह भूल गई। मैं एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चल रही थी। मेरे एक हाथ में ईमानदारी वाला

अध्ययन था और दूसरे हाथ में ईमानदारी वाला अध्यापन। बची-खुची शामें और रातें मदिरालयों, थियेटरों में गुज़रने लगीं और बची-खुची छुट्टियां साइकिल सवारी से सैर-सपाटे में। मैं वहां की सड़क पर चलने वाले हर व्यक्ति का मिलान अपने देश की सड़क पर चलने वाले व्यक्ति से करने लगी। मुझे लगा कि यहां का व्यक्ति हर काम चटपट करता है। चाहे प्यार हो या नफरत। भले ही वह अपने दिल की बात अपने होठों से न कहें लेकिन वे एक-दूसरे का हाथ थाम मीलों चलते रहते, ब्लू फिल्में देखते, नाचघर जाते, हंसते-खिलखिलाते, बरसाती पलों में छाते की डंडी को एक साथ थामते, बचते और भीगते, सड़कें नापते रहते। न उन्हें किसी खुली खिड़की का डर रहता और न किसी खुले दरवाज़े का हर उम्र का व्यक्ति यदि अपने प्रेम की बात भाषा से न समझा सकता तो वह संकेतों में समझा देता और दोनों मन खुश होते कि हम एक-दूसरे को कितना प्यार करते हैं। इतना प्यार कि जैसे एक उफ़नती नदी सागर में जाकर मिल जाती है। बर्फीली हवाएं और तूफान मुझे झकझोर जाते। मेरा किशोर मन बहुत पीछे छूट चुका था लेकिन फिर भी कभी-कभार वह मेरे कंधों पर सवार हो जाता और मुझे अनु और आलोक की याद आ जाती। क्या वे अब भी वैसे के वैसे होंगे, दब्बू?

समय का रथ-चक्र तेजी से दौड़ा जा रहा था और मैं उसकी बागडोर कसकर थामे थी। कुछ समय बाद जब मैं हिन्दुस्तान लौटी और कॉलेज की दुनियां में दुबारा से आई तो एक दिन कॉफी ब्रेक में एक लड़की मेरे पास आकर बोली "नमस्ते मैडम, आपने मुझे पहचाना। मैं अनु हूं और आपसे पढ़ती हूं।" उसमें काफी बदलाव आ चुका था और मुझमें भी। पढ़ाते समय मेरी आंखें किताब के अलावा हर चेहरे पर टिकी रहती और मैं ये भांप लेती कि किस लड़की का मन कितने पानी में है। उस समय मेरा काम सिर्फ़ पढ़ाना होता था और लड़कियों का नाम याद रखना नहीं। मैंने कहा—"तो"। उस "तो" में इतनी भयंकरता छिपी हुई होगी कि वह लड़की "मैडम मैडम" कहती कमरे से बाहर चली गई। कुछ दिन के बाद जब उसने एक बार फिर मुझसे बात करने का दुस्साहस किया तो मैंने उससे कहा कि बात करने से पहले देख लेना चाहिए कि सामने वाला व्यक्ति किस मूड में है। वह सहमकर जैसे आई थी वैसे चली गई और मैं सोचने लगी कि वह ईश्वर की तरह अन्तर्यामी तो है नहीं कि जान जाये किस समय मेरा मन कैसा है। वैसे भी मैं अपने मन को अपने चेहरे तक नहीं आने देती। जब मेरा मन ही मुझसे डरा-सहमा रहता है फिर वह तो हाड़-मांस की लड़की अनु है जिसे मैं दब्बू कह दिया करती थी। सच तो यह है कि तरह-तरह के लोगों से विचार-विमर्श करते, तरह-तरह की संस्कृतियों का अध्ययन करते, तरह-तरह की परिस्थितियों

और खुद से जूझते हुए मैं चट्टान बन चुकी थी और उस चट्टान को छूना आसान नहीं था। फिर मुझे भी यह लगा कि ये प्यार-व्यार बेकार की बातें हैं। इन फालतू बातों के लिए कीमती ज़िंदगी को दांव पर नहीं लगाना चाहिए इसलिए मैं अनु और आलोक के बारे में जानने को उत्सुक भी नहीं थी। मेरे लिये ये सब कच्ची-पक्की उम्र की कच्ची-पक्की बातें थीं जो हवा में तिनके की तरह उड़ जाया करती थीं और उड़ जाने में ही बेहतरी थी। प्यार की बात चाहे कोई चटपट कहे चाहे बरसों लगा दे अब ये सब बेपरदगी का ही दूसरा नाम है। मुझे लगता है अपनी इस नितांत और दूसरे की नितांत निजी बात को जानना और जनवा लेना निर्वस्त्र होने के बराबर है।

पता नहीं क्यों अपने देश में मेरा उतना मन नहीं लगा था जितना लगना चाहिए था। दूसरों की बखिया उधेड़ने की भारतीय जन-मानसी प्रवृत्ति ने मुझे झकझोर कर रख दिया था। हर व्यक्ति मेरे भीतर झांकने की कोशिश करता। कोई खिड़की से झांकने की कोशिश करता। कोई दरवाजे से। कोई मेरी हर अदा पर फब्तियां कसता। मेरा मन पाखी खुले आकाश में उड़ने के लिए बेचैन हो उठा। इस बार मैं यूरोप की ओर गई और जाने से पहले मैंने अनु से कहा कि तुम्हें चलना तो अपने पैरों से ही होगा। हर तरह की बैसाखी को तोड़ कर रख दो। चाहे वह प्यार की बैसाखी ही क्यों न हो। यदि किसी को पता चल जाये कि तुम बैसाखी के सहारे चलती हो तो सभी तुम्हें "बेचारी" समझने लगेंगे और मैं नहीं चाहती कि कोई तुम्हें "बेचारी" समझे।

"जी, मैडम।" वह केवल इतना ही कह सकी। मैं नहीं जानती कि वह मेरी बात कितना समझ सकी। मैं अपनी दुनिया में मस्त थी। उस दुनिया में कभी मैं बिल्कुल अकेली होती थी और कभी मेरे आस-पास का समूचा संसार। वहां के प्रोफेसर, छात्र-छात्राएं, खूबसूरत बाज़ार, जहाज़ की रफ्तार से चलती रेल गाड़ियां, सफलता प्राप्त हो जाने पर शराब के समन्दर में डूबता युवा वर्ग, अपनी ही दुनिया में खोया हाथ में हाथ डाले प्रेमी युगल। तब मुझे लगता प्यार किया नहीं जाता हो जाता है और उस हो जाने में नारी मन की कितनी विवशता होती है ये मैं समझ सकती थी।

मेरा मन जब किसी वस्तु, व्यक्ति और स्थान को मुझसे अलग कर देता है तो मैं इतनी क्रूर हो जाती हूं कि किसी भी तरफ मुड़ कर नहीं देखती चाहे कोई प्यार की रेशमी डोर हो या नफ़रत की कठोर रज्जु। मैंने अपने परिवार से भी पूरी तरह रिश्ता तोड़ लिया था। बस कभी-कभार अनु के ख़त आ जाया करते थे। उन्हीं ख़तों ने मुझे बताया कि अब उसने नौकरी शुरू कर दी है और वह अपना पिछला सब कुछ भूल चुकी है। जब वह कहती है तो वह सब कुछ भूल ही चुकी होगी। फिर ज़िंदगी के हर पन्ने को याद रखना ज़रूरी

भी नहीं होता। मैं नहीं जानती कि मेरे पास कितना खालीपन था। कितना भरापन। इस बीच जब मैं छुट्टियों में हिन्दुस्तान पहुंची तो मैं एक बार अनु के दफ्तर गई। मैंने उसे गहरी पैनी निगाहों से देखा। मुझे लगा कि सतही तौर पर वह पूरी तरह बदल चुकी है। मैंने उसके साथ चाय पी और लौट आई। शायद उसने अपने लिए एक रास्ता चुन लिया था। अब देखना यह था कि वह कितनी दूर तक उस पर चल सकती है। मैं फिर अपने गंतव्य की ओर गई। विदेश में रहते-रहते भारतीय तौर-तरीके पूरी तरह भूल चुकी थी। मेरे सामने उड़ने के लिए एक खुला आसमान था। क्या मैं उस पर अकेले उड़ सकी थी? शायद नहीं। मेरे भीतर एक अजीब तरह का ज्वालामुखी धधक रहा था जो अक्सर फूट पड़ता था और इस तरह के ज्वालामुखियों के लिए विदेश में कोई स्थान नहीं था। वहां भावुकता वाले रिश्ते न कोई बनाता है और न कोई निभाता है। अजीब तरह की दीवार बनी रहती है और वक्त के साथ-साथ वह और ज़्यादा मज़बूत होती चली जाती है। मेरे भीतर की छटपटाहट एक बार फिर मुझे हिन्दुस्तान ले आई। मैंने बंद दरवाज़े वाले घर का ताला खोला और खुद को व्यवस्थित करने में जुट गई। इस बीच एक बार फिर अनु से मुलाकात हुई। मुझे लगा कि वह मज़बूत तो है लेकिन अभी भी आलोक के नाम की माला जपती है। मैं चाहकर भी उसकी उस माला को नहीं तोड़ सकी। यदि मैं तोड़ भी देती तो वह बिखरे मनकों को फिर से पिरो लेती। वह जब भी मुझसे मिलती तो आलोक का जिक्र आ ही जाता। जहां तक मेरा अनुमान है इस लंबे अर्से में वह लड़का भी पूरी तरह बदल चुका होगा। वह यह भी नहीं जानता कि आलोक कहां है। यदि किसी का अता-पता ही नहीं है तो ख़त कहां भेजे जाएं लेकिन उसे यह विश्वास था कि वह उसे खोज़ लेगी लेकिन उसके पागलपन का ईलाज न तो उसके पास था और न ही मेरे पास। वह हर चेहरे में आलोक की छवि ढूंढती पर मुझे नहीं लगता कि अगर वह उसे मिल भी जाए तो वह उसे पहचान लेगी।

भारतीय माता-पिता की नज़र में विवाह ही लड़की की एकमात्र परिणति होती है। बालपन से ही उसके मन में ठूंस-ठूंस कर यह बिठा दिया जाता है कि वह बड़ी होगी, उसका ब्याह होगा, उसका दूल्हा आयेगा और उसके आंचल को चांद-सितारों की सौगातों से भर देगा। शायद अनु भी ऐसा ही सोचती होगी। पागलपन की भी कोई हद होती है। धरती पर चलने वाला इंसान लाखों मीलों की दूरी वाले चांद-सितारों को ज़मीन पर कैसे ला सकता है। दूल्हा तो अपने शरीर की तुष्टि के लिए औरत को बाहों में भरता, बहकी-बहकी बातें करता और फिर घर संभालने के लिए उसे जिंदगी भर नौकरानी समझता रहता है। और बेवकूफ़ औरत पति की नौकरानी बनकर

फक्र का अनुभव करती है। यदि कभी वह अपना मुंह खोलने की कोशिश भी करती हैं तो उसे पूरी तरह दबा दिया जाता है। ये बात मैंने अनु को कई बार समझाने की कोशिश की लेकिन वह अपने माता-पिता की दुहाई देती कि वह उसकी शादी के लिए बहुत बेचैन हैं और मुझे लगता कि वह माता-पिता की आड़ में अपनी कमज़ोरी दिखाना चाहती है। ज़रूरी तो नहीं कि पति से ही घर बनता है। अकेले रहकर भी घर बन सकता है। यह दूसरी बात है कि उसे समाज स्वीकार नहीं करता। पर मैं भी क्यों उस सड़े-गले ज़ालिम समाज की बात करती हूं जो हर घाव पर नमक छिड़कने में मशगूल रहता है।

यदि किसी को इंतज़ार करने में ही मज़ा आता है तो मैं ही क्यों उसमें किरकिरी बनूं। इंतज़ार करने के अलावा और भी बहुत से काम किए जा सकते हैं। जिनमें से एक काम तो वह कर भी रही थी और वह थी नौकरी। अच्छा-खासा रुतबा, अच्छा-खासा रुपया-पैसा और फिर ये प्यार की फालतू बातें। मुझे लगता कि शांत झील में किसी ने कंकर फेंक दिया हो। क्या मेरी कलम अनु को इंतज़ार करने के लिए छोड़ दे या माता-पिता के दबाव में आकर शादी करा दे? मेरी कलम उसे आंसू बहाने के लिए नहीं छोड़ सकती। वह उसे एक कुशल नेत्री के रूप में देखना चाहती है। क्या वह नेत्री बन सकेगी।

यदि मैं थोड़ा पीछे लौटूं तो देखूं कि क्या वजह है कि दोनों एक ही घर में रहते हुए भी आपस में इतनी दूरी बनाए रखते थे। क्या वह लोकलाज का भय था? या दोनों में से किसी एक ने घर बदल लिया था या वे दोनों इतने दब्बू थे कि एक-दूसरे को अपने मन की बात नहीं कह सकते थे। शायद जितना गुस्सा मुझे अनु पर था उससे भी ज़्यादा गुस्सा आलोक पर था। वह कहां है, कौन-से देश में है, नौकरी करता है या नहीं, शादी की है या अनु की तरह वह भी इंतज़ार करता है? ढेरों सवाल मेरे सामने मुंह बाएं खड़े हैं। यदि कोई इंतज़ार करता है तो एक-दूसरे को ढूंढने के लिए कोशिश तो करनी ही पड़ेगी। क्या वह कोशिश कामयाब हो पाएगी? और मैं सोचती हूं कि कोशिश की कामयाबी मेरी कलम की कामयाबी है। यदि कामयाबी नहीं है तो नाकामयाब होकर भी शान से ज़िंदगी का गुज़र-बसर किया जा सकता है। अकेले रहकर, अपने मन का बादशाह बनकर। अपनी ताजपोशी खुद ही की जा सकती है और इस ताजपोशी के चर्चे दूर-दूर तक फैलेंगे और इसकी ख़बर मुझे और मेरी कलम को खुशी से भर देगी और ये खुशी कम-से-कम मैं अनु को तो दे ही सकती हूं।

14

क्षमादान दो

एक बड़ा-सा शहर, शहर में बड़ी-सी हवेली, हवेली में बड़ा-सा आंगन, आंगन में फूलों से सजा ब्याह का मंडप और गूंजते हुए शहनाई के मधुर स्वर, सुरुचिपूर्ण परिधान पहने मंद-मंद मुस्कुराते अतिथि-वृंद और रति और कामदेव रुप में अवतरित होते वर और वधू।

पंडित जी का स्वस्ति-वाचन, गऊ दान और कन्यादान के बाद सप्तपदी, प्रतिज्ञा कराते पंडित जी को रोकता हुआ वर का सशक्त स्वर—"पहले मेरी बात सुनो। यह लड़की मुँह-अंधेरे उठकर घर की साज-सज्जा करेगी। सभी को नाश्ता करा नौकरी पर जाएगी। नौकरी से लौटकर खाना पकाएगी। मेरे माता-पिता के चरण दबाकर मेरे चरण दबाएगी। मेरे मेहमानों की आवभगत करेगी। अपनी पूरी तनख्वाह मेरे हाथ में देगी। सभी के व्यंग्य-बाण सहकर मुस्कुराती रहेगी। यदि इसे ये शर्तें मंजूर हों तो मैं शादी करता हू नहीं तो मैं इसी वक्त मंडप से उठ जाता हूं।"

ये सुनते ही सभी के हाथों के तोते उड़ गये। वधू के माता-पिता और सगे-संबंधियों ने कानाफूसी करने के बाद कहा—"हां कह दे बेटी, हां। कन्यादान तो हम कर ही चुके। हमारी इज़्ज़त का सवाल है।" वधू ने जलती हुई आंखों से एक बार सेहरा पहने हुए आदमी को घूरा और फिर अपने माँ-बाप को। वे शेरनी के समान गरजी—"भाड़ में जाए तुम्हारी इज़्ज़त।" वह मंडप से उठी और शादी का जोड़ा पहने हवेली के मुख्य द्वार से बाहर हो गई। उसने भागना शुरू किया, पहले धीमी और फिर तेज़ रफ्तार से। वह आगे-आगे और मायके-ससुराल के लोग पीछे-पीछे। "रुक जा बेटी, रुक जा। रुक जा बहू, रुक जा। हमें क्षमादान दो।" पर वह लड़की सबकी आंखों से ओझल हो चुकी थी और क्षमादान वाले स्वर आकाश में विलीन हो चुके थे।

15

एक थी हवेली

एक बड़ा-सा शहर, शहर में बड़ी-सी हवेली, हवेली में बड़ा-सा आंगन और आंगन में बड़े मालिक के जन्मदिन पर जमावड़ा करते रिश्तेदार और मित्र।

उस हवेली की एक बेटी एक अंधेरे कमरे में बैठी सोच रही थी तीस बरस पहले की जिंदगी को। जब उसे जबरदस्ती उस ससुराल में धकेल दिया गया था जहां चौबीस घंटे भट्टी जलती रहती थी। मार-पीट, चीख-चिल्लाहट, गाली-गलौज़ और भी न जाने क्या-क्या। लेकिन उस बेटी ने अपने लिए एक रास्ता तलाश लिया था जिस पर चलकर उसने पूरी पृथ्वी नाप ली थी। एक पग धरते ही दूसरे के लिए अपने आप रास्ता बन जाता था। उसने न केवल अपने लिए रोज़ी-रोटी तलाशी थी बल्कि एक अच्छा-ख़ासा रुतबा भी हासिल कर लिया था। वह जहां जाती सभी उसे घेर कर खड़े हो जाते। वह स्वाभिमान से सिर ऊंचा करके चला करती थी। जहां तक उसके मायके आने का सवाल होता था वह कभी-कभार सुख-दुःख के पलों में ही शामिल हुआ करती थी। वह स्वभाव से अन्तर्मुखी थी, बिना बोले बहुत कुछ कह जाना उसकी आदत में शुमार था। अचानक किसी ने स्विच ऑन किया। छुटकी को देखकर वह काया चौंक कर बोली—"अरे, अंधेरे में बैठकर तू यहां कौन-सा ताना-बाना बुन रही है?"

"कुछ नहीं।" कहकर छुटकी दूसरे कमरे में चली गई।

"इससे बात करना तो नक्कार खाने में तूती जैसा है। इसके लिए जैसा दिन वैसी रात।" बड़बड़ाती हुई वह काया बाहर चली गई। हवेली के सभी लोग खुशी के सागर में डूबे हुए थे और छुटकी अपने दरियां में डूब रही थी। उसे आज भी अच्छी तरह याद है कि किसी ज़ोरदार हंगामे के बाद जब वह

महज़ एक रात के लिए मायके आई थी तो वह अच्छी तरह समझ गई कि ब्याह के बाद लड़की के लिए मायके का दरवाज़ा हमेशा के लिए बंद हो जाता है। मेहमान की तरह आओ और जाओ। पर उसने यह तय कर लिया था कि मायके की झूठी पत्तल खाने से अच्छा है कि अपनी कमाई की सूखी रोटी खा ली जाये। उसके बाद उसे मुसीबतों के पहाड़ लांघने पड़े लेकिन उसने पीछे मुड़ कर नहीं देखा। वैसे वह मेहमान की तरह भी मायके नहीं आती थी। अब मैं इसी हवेली की एक और पीढ़ी की बेटी की बात करती हूं। इस बेटी को मैं बड़की नाम दूं तो अच्छा होगा। बड़की बहुत ही सुंदर थी और अपने मन की मालकिन भी। आज़ादी की लड़ाई में वह भी कूद पड़ी थी। उसका ज़मींदाराना रौबीला व्यक्तित्व पूरे गांव पर छा गया था। वह विदेशी कपड़ों की होली जलाती। "कतो नी गांधी दा चरखा" कहती और पूरा गांव उसमें शामिल हो जाता। लेकिन शादी के बाद उसने खुद को ससुराल की चौखट में फिट कर लिया था। ससुराल ही उसके लिए मंदिर, ससुराल ही तीर्थ, ससुराल ही काशी और ससुराल ही काबा। पति के बिना बोले ही वह उनके मन की भाषा पढ़ लेती। चार-चार पीढ़ियों की सेवा करने के बाद कभी गाय-बछड़े की सेवा करती। कभी गोबर से लिपे-पुते आंगन में बैठकर वह गेहूं-चावल बीनती और खुश रहती। उस घर में रहने वाला हर व्यक्ति उसके लिए भगवान था।

हवेली के लोग खुश थे कि बड़की ने उनकी इज़्ज़त पर आंच नहीं आने दी और उसके पति भी इतने दरियादिल कि बिना कहे वे उसके लिए खूबसूरत रेशमी साड़ियां ले आते, उसके लिए गहने बनवाते और उसे पानी के जहाज़ से यात्रा करवा लाते। खुशी के मारे उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते थे। यदि ससुराल में रहकर वहीं का मरना और वहीं का जीना स्वीकार कर लिया जाए तो बड़की बहुत सुखी थी। वह तिल को और तिल की धार को देखकर जिंदगी जीती। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती इसलिए वह खुश थी, बहुत खुश। वह खुश थी इसलिए हवेली भी खुश थी।

अब मैं दो-दो पीढ़ियों की बेटियों की बात बताने के बाद बेटे की बात कहती हूं। जैसा कि हमेशा से होता आया है बेटे को ही उत्तराधिकारी रूप में स्वीकार किया जाता है। उसके जन्म पर लड्डू बांटे जाते हैं, गीत गाए जाते हैं, पहली बार स्कूल जाने पर भी लड्डू बांटे जाते हैं, उसे अनाज से तोला जाता है, उसके ब्याह पर गांव भर को न्यौता जाता है इसलिए उस हवेली के बेटे के ब्याह पर भी धूम-धड़ाका हुआ था। चांद-सी दुल्हन आई थी। लड्डू बंटे थे। मेहमानों को जी-भर कर दिया गया था। बहू को कुंदन और जड़ाऊ गहने दिए गये थे। पूरी हवेली बहुत खुश थी।

हवेली के बड़े मालिक दुकान बढ़ाकर जब सांझ को घर लौटते तो रुपयों से भरा थैला बहू की ओर बढ़ा कर कहते–"ले बहू, रख ले। बरकत बनेगी।" बहू एक हाथ से थैला पकड़ती और दूसरे हाथ से चरण छूती और लजाती हुई अपने कमरे में चली जाती। जिस समय बड़े मालिक ख़ाली हाथ अपने कमरे में जाते तो छुटकी मन ही मन सुबक उठती। वह सोचती कि बाबूजी को क्या हो गया है। अपनी बेटी के लिए तो इनके पास एक इकन्नी तक नहीं है और दूसरे घर की बेटी के लिए नोटों के थैले। बड़े मालिक का वश चलता तो वे बहू के लिए नोटों की बिछावन बना देते और नोटों का ओढ़न भी। तब छुटकी को लगता कि ये दूसरे घर की बेटी यहां क्यों आ गई। ये उसके रुपये हैं, फिर वह सोचती कि नहीं, ये उसके नहीं हैं। यदि उसके होते तो उसे इकन्नी के लिए भी हाथ नहीं पसारने पड़ते। वह मन ही मन बहू से ईर्ष्या करने लगी।

बड़े मालिक की बात सच निकली। पहले वे नोटों का एक थैला बहू को देते बाद में वे दस थैले देने लगे। बरकत होने लगी पहले घर के आगे एक मोटर थी अब दस मोटरें थीं। एक हवेली के साथ कई हवेलियां जुड़ गईं। जिसका जैसा नसीबा जब उस हवेली में छत्तीस प्रकार के व्यंजन बन रहे होते तब छुटकी नमक बुरकी बासी रोटी खा रही होती।

जिस समय जाड़े की ऋतु में छुटकी फर्श पर चटाई बिछाए सो रही होती तो वह जी भर कर अपने बाबू जी को कोसती वह सोचती बाबूजी का भी जवाब नहीं। आदर्शों की ऊंची-ऊंची पताकाएं फहराया करते थे। वे कहा करते थे कि दहेज देना पाप है इसलिए इस हवेली से न तो दिया जाएगा और न ही लिया जाएगा। उन्होंने छुटकी को एक ही साड़ी में विदा किया था। विदाई के समय रिश्तेदारों द्वारा दिये जाने वाले पैसों को भी उन्होंने नकार दिया था। वह ख़ाली हाथ ससुराल की दहलीज़ पर खड़ी थी। दूसरी ओर बेटे के ब्याह पर बाबू जी ने जी भर कर समधियों से लिया था। बाबू जी की ये दोहरी नीति कैसी। बरसों खून-पसीना बहाने के बाद छुटकी अपने लिए पलंग ख़रीद सकी थी। मेहमानों के आने पर वह लकड़ी के पटरों पर गद्दियां बिछा देती। हवेली के लोग उसके यहां आकर जब मीनमेख निकालते तो वह जलती आंखों से सभी को राख कर देना चाहती। वक्त-वक्त की बात होती है अब छुटकी सीप जड़े पलंग पर सोती है। पन्द्रह कमरों के आलीशान घर में रहती है और गर्व करती है। उसने सब कुछ अपनी मेहनत से बनाया है।

16

अमृतकुंवर

बहुत सोच-विचार के बाद मैंने खुद को अमृतकुंवर मान लिया था। किसी पांच सितारा होटल में आयोजित पार्टी में जब एक सुप्रसिद्ध राजनयिक ने मुझे 'अमृतकुंवर', 'अमृतकुंवर' पुकारना शुरु किया तो मेरे अलावा मेरा आस-पास भी चौंक उठा। सभी मेरा वास्तविक नाम जानते थे और दूर-दूर तक उनके पुकारे नाम से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। मैं उनका नाम स्वीकारने को तैयार नहीं थी और वे मेरे वर्तमानी नाम को। वे बराबर कहते चले जा रहे थे कि मैं ही पूर्व जन्म की अमृतकुंवर हूं। सोने-चांदी के ताने-बाने वाले परिधान, जगमगाते रत्नजटित आभूषण पहनने और दास-दासियों से घिरी ऊंची अटारी में रहने वाली अमृतकुंवर। हर तरह के सौन्दर्य से दमकती, अलंकरण सम्मानों से अलंकृत होने वाली एक रूपसी। उस समय वह बात आयी गयी हो गयी और मैं अपने वर्तमान में लौट आयी।

वे मित्र मुझसे बार-बार मिलते रहे और मुझे अपने पूर्वजन्म में लौटने को बाध्य करते रहे तांकि मैं जगमगाते अतीत में पहुंचकर कठोर वर्तमान से मुक्ति पा लूं। उनका कहना था कि वे मुझे कई जन्मों से ढूंढ़ रहे हैं। कभी इस देश की धरती पर और कभी उस देश की धरती पर और मैं हूं कि उन्हें मिलती ही नहीं हूं। जन्म जन्मांतरों की कोशिश के बाद उन्होंने मुझे पा लिया था। और अब वे मुझसे अलग नहीं होना चाहते थे।

मैं उनसे कैसे कहती कि इस जन्म के नाम ने मुझे भरपूर ख्याति प्रदान की है। न सही अमृतकुंवर वाली ख्याति पर गुलमोहर की चटक जिंदगी ने भी मुझे बराबर संवारने की कोशिश की है। अपने पसीने से खरीदी रोटी ने मुझे बराबर शक्ति प्रदान की है। मैं उनसे कैसे कहती कि मुझे तो वर्तमान के हर मौसम में रंगमय, सुगन्धमय रहना है। इसमें संदेह नहीं कि पूर्व जन्म के

माता-पिता बन्धु-बान्धवों और प्रियजनों द्वारा दिये गये नामों की तरह इस जन्म का नाम डगर-गांव सब कुछ यहीं छूट जाएगा और अगले जन्म में मुझे कोई दूसरा नाम दे दिया जाएगा।

कठोर धरती पर रहने वाली मैं धीरे-धीरे अपना वर्तमान नाम भूलकर खुद को अमृतकुंवर समझने लगी। जब-जब भी मेरे सामने भयंकर समस्याएं आ खड़ी होती तो आंखें बंद कर पूर्वजन्म में पहुंच जाती। मुझे लगता कि मैं अपने हाथ से खाना भी नहीं खा पाऊंगी। छत्तीस-प्रकारी व्यंजनों वाले थालों का कौर-कौर कोई दूसरा मुझे खिलाने वाला है। खाली-खाली कमरों में मैं खुद को दास-दासियों से घिरा महसूस करने लगी। बिजली पानी के न होने पर भी मैं सुगन्धित द्रव्यों से दुग्ध-स्नान करने लगी।

मित्र के कहने पर इस शरीर को तो नहीं छोड़ सकी पर वैभव सम्पन्न अमृतकुंवर को अपने में महसूस करने लगी। मेरे चेहरे पर हर तनाव अर्न्तध्यान हो गया और मैं ताज़े गुलाब की कविता-सी खिली रहने लगी। मैं उस लोक में रहने लगी जहां सिर्फ ताज़ा हवा रोशनी है। बंद कमरे में मैं यही सोचने लगी कि कोई मेरे थके मांदे पांवों को सहला रहा है, मेरी सुगन्धित केशराशि में मोतिया गूथ रहा है, सितारों जड़ी चूनर ओढ़ा मेरा वृद्धावस्थी सौन्दर्य निहार रहा है, बांहों में भरे मेरे तन मन का ताप हर रहा है। मुझे अमृतकुंवर अमृतकुंवर पुकारता चला जा रहा है और मैं रुनझुन करती उसके पीछे-पीछे चलती चली जा रही हूं।

उसके बाद की औपचारिक पार्टी में जब उस मित्र ने मुझे वर्तमानी नाम से पुकारना शुरू किया तो मैं एक बार फिर चौंक गयी। कौन देवदूत उस मन में छिपा था जो मुझे भयानक समस्याओं से उबार कर काल्पनिक लोक में ले गया था। जबकि पानी भी बिना मिलावट के नहीं मिलता, उसका सरल-तरल सात्विक स्नेह शुद्ध रूप में मुझे मुस्कानमय कर गया। वह मुझे पूर्व जन्म में पहुंचा कर खुद इस जन्म में लौट आया है। पहले उसने मुझे ढूंढ़ा था और अब मैं उसे ढूंढ रही हूं। मैं उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रही हूं।

लौट आओ न मेरे मित्र। अपनी अमृतकुंवर के पास।

17

सं गच्छध्वं

मेरे घर के पास बहुत बड़ी हवेली थी जिसका काष्ठ निर्मित सदर दरवाज़ा हवेली की छत को छूता था और जिसके बीचों-बीच लोहे की मज़बूत जंजीर जो दरवाजे के दोनों पल्लों को बांधे रखती थी। साथ लगा होता था लकड़ी का हत्था और उसके नीचे होती थी छोटी दरवाज़ेनुमा खिड़की जिससे घर के लोग आया-जाया करते थे। काष्ठकारी से सुसज्जित दरवाज़ा तीज-त्यौहारों पर ही खुला करता था क्योंकि बड़े घर की बहू-बेटियां चादरों से ढकी बग्घी में सवार होकर आशा करती थीं। सभी औरतें मोटी चादर का घूंघट काढ़े रहती और हवेली की मालकिन दादी जान की दुआएं लिए बगैर वे अपनी ओढ़नी नहीं उतारती थीं।

हवेली के बाहर रेत का दरिया बहता था। कहा जाता है कि किसी ज़माने में रेत के स्थान पर आटा हुआ क़रता था। सभी लोक ज़रूरत के हिसाब से पड़ोपी भर (पचसेरी) आटा उठाते और रोटियां सेंकते। रेत के दरिया के उस पार रेल की पटरियां और रेल की पटरियों के थोड़ा आगे पीलुओं, खजूरों और बेरियों के घने जंगल जिसमें आमों के कच्चे-पक्के पेड़ भी हुआ करते थे। हवेली के पड़ोस में सरदार गुरचरण सिंह, शमशेर खां और जस्टिन रहा करते थे। इस घर की औरतें भी दादी की हवेली में आया करती थीं। दादी माँ सभी को अच्छी-अच्छी बातें, बहुत प्रेम से मिल-बैठकर जीने की बातें बताया करती थीं। यदि ठीक-ठीक कहा जाए कि हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सभी का इस हवेली पर समान अधिकार था क्योंकि दादी सभी को समान भाव से प्यार करती और असीस देती थी।

घर के सभी मर्द खेत-खलिहान में काम करते और घर की औरतें आंगन की लीपा-पोती और चरखा-चक्की में लगी रहती। गांव का कोई भी त्यौहार

दादी माँ की असीस के बिना पूरा नहीं होता। दादी माँ का बेटा गंगा प्रसाद होता या हरमिंदर सिंह या जस्टिन ट्रेलर या इमरान खान। सभी एक साथ मिलकर बासी रोटी, ताज़े मक्खन और चाव से नाश्ता-पानी करते और स्कूल को चले जाते। शाम के समय सभी मिलकर सरसों की गंदलों के अचार के साथ सुबह की रखी रोटी के साथ चना-चबेना करते। अंधेरा होते-होते वे सब बिस्तर पर चले जाते क्योंकि दादी माँ का आदेश ही ब्रह्म वाक्य होता। उनके अनुशासन के सामने किसी की भी नहीं चलती। उनकी हां में हां और न में न हुआ करती थी। आज भले ही दिवाली के अवसर पर पटाखे न जलाने की सुप्रीम कोर्ट के आदेश का सरेआम उल्लंघन कर दिया जाता है लेकिन दादी माँ के अनुशासन के किस्से दूर-दूर तक सभी को आतंकित किए रहते।

समय का रथ-चक्र इतनी तीव्र गति से दौड़ता है कि उसके पहिए को कोई भी नहीं रोक सकता। दादी माँ के बाल सफ़ेद हो गए थे और उनके संगी-साथियों के बाल भी उसी दिशा में चल निकले थे। उन सभी के चेहरों पर उम्र के किस्सों की लंबी दास्तान साफ-साफ पढ़ी जा सकती थी। बच्चे युवा हो चले थे।

बात उन दिनों की है जब सरसों के तेल के दीये जला करते थे। तब भी सब कुछ ज़बानी याद हुआ करता था, पहाड़े हों या गिनती। दादी माँ पहले बच्चों, फिर बच्चों के बच्चों को धर्म, राजनीति के पाठ कंठस्थ कराया करती थीं। अबकी पीढ़ी अपनी मर्जी के पाठ याद रखती है। वो इतनी तीव्र गति से आगे बढ़ने लगी कि उनसे दादी माँ पीछे छूट गई थी। दादी माँ को यह सब घुन की तरह खाए जा रहा था। अब उसकी शक्ति क्षीण होने लगी थी। वे घंटा भर पढ़ती-पढ़ाती और फिर किसी गहरी सोच में डूब जाती। उनकी अथाह सोच के सागर से जो कुछ भी हीरे-जवाहरात निकलते वे उनके लिए किसी काम के नहीं होते। उनके हीरे-जवाहरात तो उनकी औलाद थी जिसने उसे अपनी जिंदगी से निकाल बहुत परे धकेल दिया था। वह सोचती कि मेरा अपराध क्या है उसे घर के नौकर-चाकरों कीं आंखों में भी अंगार जलते दिखाई देने लगे। कभी-कभी दादी माँ को लगता कि उसकी आंखें खराब हो गई हैं इसलिए उसे सब कुछ धुंधला दिखाई देता है पर ऐसा नहीं था। नई पीढ़ी की बदलती सोच ने उसके सामने अंधेरा ला दिया था। पर उसे तो जलती हुई मशाल चाहिए थी जो उसके समस्त अंधकार को दूर कर सके।

एक दिन की बात है कि दुःखी होकर दादी माँ नींद की गोली खाकर निद्रा के गहरे सागर में पहुंच गई। उस सागर से उसे एक दिव्य ज्योति निकलती दिखाई दी जिसमें उसने देखा कि उसका छोटा-सा शमशेरा बहुत बड़ा हो गया है और अपनी एक आंख हथेली पर रखकर दादी माँ के सामने

खड़ा है–"ये लो दादी माँ, मेरी ये एक आंख तुम्हारे सुपुर्द है। अब तुम इस आंख से सब कुछ देख सकोगी। मैं अपनी एक आंख से ही काम चला लूंगा।" दादी माँ को ये भी लगा कि हरमिंदर ग्रन्थी बनकर दादी माँ को गुरु ग्रन्थ सिंह साहिब के शब्द सुना रहा है और उसके तन-मन के शाप-ताप शांत हो रहे हैं और जस्टिन बाइबिल की कुछ पंक्तियां सुनाता चला जा रहा है "ओ गॉड, यू आर ग्रेट, कम एण्ड सेव माई ग्रैंड माँ", और उसका अपना बेटा "हरि अनंत अरि कथा अनंता" पढ़ रहा है और दादी माँ को लगा कि वह एक सम्पूर्ण पृथ्वी है जिस पर चारों दिशाओं की अनंत किरणें आच्छादित हो रही हैं और उसे लगा कि वह अनंत प्रकाश की ओर बढ़ रही है।

यह प्रकाश है एक बार का भाईचारे का। दूसरे शब्दों में "सं गच्छध्वं सं वद्ध्वं सं वो मनांसि जानतः।"

18

मेरा साया

मेरा एक दोस्त है जो चुपचाप मेरे साथ-साथ चलता रहता है। सूरज की पहली किरण के साथ ही मेरे पास आ धमकता है। दोपहर को भी मेरे पीछे-पीछे डोलता रहता है और सांझ को अपनी लम्बी काया लेकर घुप्प अंधेरे में लीन हो जाता है। उसने मेरे कई रुप देखे हैं। बचपन में जब मैं अपनी गुड़ियाओं को जगाती-सुलाती तब वह मुझे चुपचाप देखा करता था। जब मैं लिपी-पुती पटिया पर सरकण्डे की कलम से बारहखड़ी और पहाड़े लिखती तो वह कभी हंसता कभी मुस्कराता, गलतियाँ करने पर जोरदार ठहाका लगाता था। जब मैं अपनी रोटी अपने पसीने से खरीदती और पसीने के लिए लहू बहाती तो वह गहरे गम में डूब जाता था। जब मैं उदास होती तो वह मेरी उंगली पकड़कर पेड़ों की शीतल छाया में ले जाता और मुझसे कहता कि खाली पड़ी पिंगों पर बैठकर हवा से बातें करो। गाओ और गुनगुनाओ।

जब मैंने जिंदगी की कई सीढ़ियां चढ़ ली तो वह मुझे सावधान रहने के लिए कहता। अवसरवादी मित्रों से वह मुझे दूर ले जाता और कहता—"खबरदार, इन लोगों से बात की तो।"

सच तो यह है कि वह मेरी हर सबलता-दुर्बलता का साक्षी रहता। जब मैं दुःखी होकर चिंतन मुद्रा में सोफे पर जा पसरती तो वह मुझे कभी खूबसूरत कहानियां सुनाता, मेरे लिए लोरी गाता और मुझे नींद की गोदी में सुलाता। कभी मेरा तपता माथा सहलाता और कभी अपने मीठे-मीठे बोलों से मेरे घावों को मरहम पट्टी करता। जब वह थककर चूर होकर सोने के लिए चला जाता है तो मुझे उसकी बहुत याद आती है। वह मुझे नाजुक चौराहों पर दुर्घटनाग्रस्त होने से बचाता है।

मैं समुद्र में हूं या आकाश में, धरती पर हूं या गंध में। वह बराबर अंगरक्षक की तरह मेरे साथ-साथ चलता रहता है। मैं कभी-कभी उससे पूछती हूं कि तुम थकते नहीं हो तो वह यही उत्तर देता है कि आप भी तो नहीं थकती। अब मैं उम्र के जिस दौर में हूं, मुझे उसकी सख्त जरूरत है। मैं दो बूंद प्यार के लिए भटकती रहती हूं। वह मुझसे यही कहता है कि छोड़ो यह प्यार-व्यार का चक्कर। प्रेम तो एक छलावा है। तुम जिससे प्यार करती हो वह छलिया है। वह तो तुम्हारी ओर देखता तक नहीं। तरह-तरह क्रे बहाने बनाता है और झूठ बोलता है। मत करो किसी दूसरे से प्यार। यदि करना ही है तो खुद से करो। तुम अपने लिए बहुत कीमती हो। स्वार्थी प्रेमियों के इंतजार में. कब तक आंखें बिछा इंतजार करती रहोगी। ऊंचे ओहदों पर बैठे ऊंचे लोग बहुत व्यस्त रहते हैं। बातों से मोह लें यह भी गनीमत है। वे तुम्हारी पहुंच से बहुत दूर हैं इसलिए तुम्हें मैं सही सलाह देता हूं कि तुम भी उनसे दूर रहो।

जब इतनी सीढ़ियां बिना किसी धन दौलत और ओहदे के सहारे चढ़ गई और भी अपने आप चढ़ लो। मत सोचो कि वह तुम्हारी मदद करेंगे। तुम खुद इतनी समर्थ हो कि दूसरों कि मदद कर सकती हो। जब तुम सबसे ऊंची सीढ़ी पर खड़ी हो जाओगी तो उनके हाथों के तोते उड़ जायेंगे। वह तुम्हें देखकर मुस्करा देंगे और तुमसे हाथ मिलाने को बेताब रहेंगे।

तुम्हें नहीं लगता कि जिंदगी का लंबा सफर तय करते-करते तुम थक चुकी हो। पेड़ की शीतल छाया तले बैठकर थोड़ा आराम कर लो और सुस्ता लो।

यह सब कुछ मेरा दोस्त मुझसे बराबर कहता रहता है। क्या आप जानते हैं कि मेरा वह दोस्त कौन है? यदि नहीं, तो वह है मेरा साया।

19

तुमने बताया क्यों नहीं

जब मैं छोटे-बड़े बच्चों को किसी को यूं ही 'आंटी' कहते देखती हूं तो मुझे बुन्नी मौसी की याद आ जाती है। उनका असली नाम मुझे याद नहीं है क्योंकि उन दिनों बड़ों का नाम लेना अशिष्टता का पर्याय हुआ करता था। या तो स्थान के आधार पर या काम के आधार पर सभी रिश्ते पुकारे जाते थे। आगरे वाली मौसी, बनारस वाली बुआ या किताबी कीड़ा नाम दे दिया जाता था। मुझे सब लोग किताबी कीड़ा कहते थे और मौसी को बुन्नी मौसी। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि वे झाड़ू की सींक पर फंदे डालती और कभी सूत और कभी ऊन से बनियान, मोज़े बुना करती। धीरे-धीरे जब उनके हाथों में सफाई आने लगी तो वे पुराने बाइसिकल की तार पर स्वेटर, टोपा, मोजे, दस्ताने बुनने लगीं। बाद में उनके लिए एक आने की एक जोड़ी सलाई लाई गई जिस पर उनकी उंगलियां कई अदाओं से नाचती रहती। वे कई तरह के आकर्षक नमूने स्वेटर पर उतारती। हरे-भरे वृक्ष, बर्फ से लगी चोटियां, दो चोटी वाली गुड़िया, सरसों के पीले फूल और तरह-तरह के बेल-बूटे स्वेटरों पर उतारने लगती। अपने घर के लोगों के अलावा वे मौसी की ननद के बच्चों के भी स्वेटर तैयार करती और पड़ोस के पड़ोस की बेटियों के बच्चों के भी स्वेटर तैयार करती। स्वेटर से मेल खाते टोपे, जुराब और दस्ताने भी बुनती। न केवल गांव में बल्कि गांव से बाहर भी उनकी बुनाई की चर्चा होती। उनकी बनाई चीज़ें प्रदर्शनी में रखी जाती।

सबसे पहले उनके सुघड़ हाथों ने हमारे तीनों मामाओं के लिए मफलर बनाए। मफलरों पर सभी की निगाहें थम जाती। मामाओं का ब्याह हो जाने पर उन्होंने मामियों के लिए और उनके बच्चों के लिए बुनाई की। वे बुनाई

करती रही और मैं किताबें पढ़ती रही। उनके ब्याह की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया। अब मामियों के बच्चे बड़े हो गये थे और उनके ब्याह की तैयारियां होने लगी थी। बुनाई का सामान दहेज में जाना था इसलिए बुन्नी मौसी ने आंखें गढ़-गढ़ कर स्वेटरों पर रेशमी धागों से बेल-बूटे काढ़े। जब उस पीढ़ी के भी बच्चे हो गये तब वे छोटे-छोटे बच्चों के लिए स्वेटर बुनती। उनकी आंखों पर मोटे शीशों वाला चश्मा चढ़ गया था। मौसी सोचती इन लल्लों के स्वेटर बुनने में देर ही कितनी लगती है। दो दिन में पूरा स्वेटर तैयार हो जाता है और वे सभी के लिए स्वेटर बुनती।

अब ज़माना बदल चुका था। घर की तीन-चार पीढ़ियां बुने-बुनाए स्वेटर बाज़ार से ख़रीद लाती। अब हाथ के बुने स्वेटर को पूछता ही कौन था। लेकिन बुन्नी मौसी को चैन कहां। अपने बुने स्वेटरों को उधेड़-उधेड़ कर वे कभी पजामी बनाती और कभी शॉल।

"कितने गर्म होते हैं पशम से बने हुये ये स्वेटर" मौसी सोचती।

समय का चक्र ऐसा चला कि एक बार फिर से हाथ के बनाये स्वेटरों का फैशन चल निकला। घर के सभी लोग अब बुन्नी मौसी से कहते कि तुम हमारे लिए स्वेटर बनाओ लेकिन वे बहुत आहत हो चुकी थीं। उनके हाथों में भी शक्ति नहीं रही थी। अब उनका झुर्रियों वाला चेहरा सलाइयों पर तो नहीं लेकिन झाडू की सीकों पर झुका रहता। एक भी फंदा गिरता तो पूरा स्वेटर तार-तार हो जाता। मौसी उधेड़ती रहती और बुनती रहती। उनके हाथ कांपते रहते। बीच-बीच में पशम के टूट जाने पर कांपते हाथों से वह गांठ भी नहीं लगा सकती। घर के सभी लोग मौसी को कोसते लेकिन वे कुछ नहीं बोलती। वे सोचती कि यदि मेरे बच्चे होते तो मैं कम से कम गुड्डे-गुड्डियां तो बना ही देती और मौसी की आंखें गंगा-यमुना-सी झरने लगती।

मौसी ने मेरे लिए भी एक शानदार स्वेटर बनाया था। वह कोट का भी काम करता और स्वेटर का भी। जब मैं किसी पहाड़ पर जाती वो निग्गा स्वेटर भी मेरे साथ जाता और मैं फ़क्र से कहती कि यह स्वेटर मौसी ने बुना है। मशीनी ज़माने में जब मैं यह स्वेटर पहनती तो मौसी बहुत खुश होती और कहती कि कम से कम कोई कद्रदान है। मौसी अब स्वेटर नहीं बुनती। वे सिर्फ़ धूप में बैठकर आसमान को देखती हैं और मैं उनके चेहरे के एक-एक वर्के को पढ़ती हूं क्योंकि किताबी-कीड़ा हूं न।

उसमें एक वर्का यह भी था कि मौसी ने एक भी स्वेटर कभी अपने लिए नहीं बुना था। उनकी बीमारी की ख़बर पाकर मैं उनके पास दौड़ी-दौड़ी गई थी। श्रद्धांजलि रूप में मैंने वो कोटनुमा स्वेटर उन्हें ओढ़ा दिया था जो उन्होंने

मुझे दिया था। "तुम्हारी वस्तु तुम्हें समर्पित।" बुन्नी मौसी का लोहे का ट्रंक जब खोला गया तो उसमें झाडू की सींकें, पुरानी साइकिल की पुरानी तारें, एक आने वाला सलाई का जोड़ा, उधड़ी ऊन के छोटे-बड़े गोले और लच्छियां और फीकी पड़ी एक युवक की तस्वीर। रुंधे गले से मैं केवल इतना ही कह सकी कि मौसी तुमने बताया क्यों नहीं कि तुम इससे प्यार करती हो।

20

भज–गोविन्दम्

मेरी पड़ोसवासी महिला पास वाले मन्दिर में जाती, पूजा पाठ करती, कभी हनुमान जी के आगे हाथ जोड़ती, कभी राम के सामने और कभी कृष्ण जी के सामने। कभी पुजारी जी के कथा–कीर्तन में शामिल हो जाती। पुजारी जी तन्मय होकर 'भज–गोविन्द, भज–गोविन्दम्' कीर्तन करते और श्रद्धालु भक्त झूम उठते। कभी–कभार मैं भी उसमें शामिल हो जाती। कीर्तन समाप्त होने के बाद सभी भक्त अपनी श्रद्धानुसार पांच–दस रूपये आरती की थाली में डाल देते। मैं भी आरती–वंदन में शामिल हो जाती।

मेरा पड़ोसवासी करोड़पति युवा मित्र जब मुझे मंदिर जाते देखता, तो उसके होठों पर विश्रूप हंसी फैल जाती। आदतन, मैं मौन भाव से मंदिर के लिए चल पड़ती। एक दिन जब बड़े और छोटे पुज़ारी 'भज गोविन्दम्' की लय में निमग्न थे और भक्तवृंद मस्ती में झूम रहे थे, तो अचानक बड़े पुजारी जी ने 'भज गोविन्दम्' के स्थान पर 'एक लाख, एक लाख' कहना शुरू कर दिया। हुआ यूं कि कागज़ का एक रूक्का कई हाथों से गुज़रता हुआ, उनके पास पहुंचा था जिस पर एक लाख लिखा हुआ था। छोटे पुजारी जी की ओर जब बड़े पुजारी जी ने रूक्का बढ़ाया तब वे भी भज गोविन्दम् के स्थान पर 'एक लाख, एक लाख' कहने लगे, और साथ ही, भक्तजन भी। अब सब मिलकर 'एक लाख, एक लाख' गा रहे थे। मैंने देखा कि दुग्ध–धवल वस्त्र पहने मेरा युवा पड़ोसी खड़ा मुस्करा रहा था। बड़े पुजारी जी द्वार तक गए और उस धनी–मानी व्यक्ति को तख़्तपोश तक ले आए। उन्होंने कुछ ऐसी अदा से मेरी ओर देखा कि बड़े पुजारी जी ने मुझसे कहा, "चल हट यहां से। हर रोज़ मुफ़्त में चरनामृत लेने चली आती है।" "ये तो भगवान् का घर है। भगवान् तो सबको सूरज, चांद, सितारों की रोशनी, हवा–पानी मुफ़्त में ही देते हैं।"

मैंने कहा। "देते होंगे, पर यहां किसी को मुफ़्त में नहीं मिलता।" अपमानित होकर मैं द्वार की ओर बढ़ी, और मेरे पीछे-पीछे वह युवा मित्र भी चला आया। दोनों पुजारियों ने तीखी आवाज में कहा "कहां जा रहे हो?" उत्तर सुनाई पड़ा "जहां ये जाएंगी" उस मित्र ने मेरी ओर संकेत किया।

"पहले एक लाख तो देते जाओ", दोनों पुजारी दहाड़े और साथ में भक्तवृंद।

21

मूलधन का ब्याज़

अब तक तो मैंने ज़मीदार-किसान, सेठ-साहूकार और बैंक-डाकघर से लिए हुए कर्ज़ की बावत ही सुना था, ज़िन्दगी का लंबा हिस्सा ब्याज़ चुकाने में ही लग जाता था, और मूलधन वैसे का वैसा ही रहता था। ब्याज़ का एक और रूप चक्रवर्ती ब्याज़ भी हुआ करता था, जिसे चुकाने में पीढ़ियां ख़त्म हो जाती थी। अब मैं एक ऐसे कर्ज़ की बात कहना चाहती हूं, जो मैंने किसी नाजुक और भावावेशी पल में लिया था और उसे चुकाने के लिए पता नहीं कितने बरस लग गए। लेकिन उसका ब्याज़ तिल भर भी कम नहीं हुआ। जिस व्यक्ति के साथ मेरे फेरे करा दिए गए थे, उसके साथ पल भर का शारीरिक संबंध मुझे एक संतान दे गया था। उस समय तो जो हुआ सो हुआ, उसके बाद के सभी पल मुझ पर इतने हावी हो गए कि मैं अपना सब कुछ भूल गई। पता नहीं कितनी-कितनी बार मैंने उसकी गंदगी साफ की। कितनी-कितनी बार उसे दूध पिलाया। खाना पकाया, परोसा और खिलाया भी। बारहखड़ी, पहाड़े रटवाए, स्कूल की फीस दी। उसकी हर फरमाइश पूरी की। उसके ब्याह पर वारी-वारी गई। यूं तो बड़े-बड़े नेता गंदगी धोने वालों के पक्षधर रहे। लेकिन मेरा पक्षधर कोई नहीं रहा।

जैसा कि होता है बेटा भी संतान वाला हो गया। अक्सर कहा जाता है कि मूल से ब्याज़ प्यारा। लेकिन मुझे किसी से भी कोई प्यार-व्यार नहीं था। बेटे की फीस किसी तरह चुकाई। अब मुझमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि उसके बच्चों की भी फीस चुकाऊं। फिर ये बच्चे तूफ़ान थे, तूफ़ान। सभी मिलकर कहते, 'दादी, पैसा दो। तुम्हारे पास तो बहुत पैसा है। तुमने किया ही क्या है।' 'मैंने बहुत किया है, रे। अपने पेट पर पट्टी बांधकर तुम्हारे बाप को पढ़ाया लिखाया।' वे सब मिलकर कहते, 'तो क्या हुआ?' उनका 'तो क्या हुआ?'

अस्तर की तरह मेरे पेट में गढ़ जाता। लेकिन वह घाव देखने वाला कोई नहीं होता। 'इतना पैसा रखकर तुम क्या करोगी?' वे सब मिलकर मुझे चिढ़ाते। मेहमानों के सामने चीखते-चिल्लाते। ज़बरदस्ती पैसे पूछते। हर रोज़ के इस धन्धे ने मुझे खटिया का रास्ता बता दिया, और एक पल का कर्ज़ देने, और पति कहे जाने वाले व्यक्ति ने भी मेरी ज़िन्दगी से किनारा कर लिया।

बिस्तर पर पड़े-पड़े मैं कभी छत की ओर ताकती, और कभी बीते पलों के धागों से वर्तमान का ताना-बाना बुनती। मेरे पास डॉक्टर साहब दवाईयां लेकर आते। हाल-चाल पूछते, और मैं खुशी की बगिया में पहुंच जाती। लेकिन मेरी खुशी भी मेहमानों की तरह कुछ वक़्त मेरे साथ गुज़ार कर लौट जाती। 'दादी माँ, पता है ये टींकू क्या कह रहा था?' 'क्या कह रहा था।' 'कह रहा था कि तुम्हारे जाने के बाद ये पूरी हवेली हमारे नाम हो जाएंगी।' माँ ने डांटते हुए कहा—'इस घर के लोगों ने लंबी उम्र पाई है। जब तक तुम्हारी दादी जाएगी, तो ये हवेंली खंडहर बन चुकी होगी।' मेरी आंख के कोर से एक बूंद मेरे आंचल में टप से आ गिरी थी। मैं कुछ नहीं बोली थी। बच्चे हो-हल्ला करते लौट गए। मुझे लगा कि आसमान से कोई दूत उतर रहा है। उसका विमान मेरे आंगन में आ लगा है। मैंने ये भी देखा कि उसमें डॉक्टर साहब बैठे हैं, जो मेरा हाथ थामे मुझे अपने साथ लिए चले जा रहे हैं, और कह रहे हैं कि 'चलो मेरे साथ। यह जालिम दुनिया तुम्हारे रहने लायक नहीं है। इसमें बैठे गिद्ध और चील तुम्हें नोंच-नोंचकर खा जाएंगे।' मैं डाक्टर साहब की नर्म हथेलियां थामकर तैरने लगती। लेकिन मुझे ये मालूम नहीं चलता कि मैं सागर में तैर रही हूं या हवा में। इतना तय है कि मैं तैर रही हूं। मेरे गमों का पहाड़ टुकड़े-टुकड़े होकर गिर गया है। और यह भी लगता है कि उस एक पल का कर्ज़ ब्याज़ समेत मैंने चुकता कर दिया है।

22

जूठन

उसका नाम कुछ भी हो सकता है। दुनिया में ढेर सारे नाम हैं लेकिन मैं उसे कोई नाम नहीं दूंगी। वह मेरी कहानी की नन्हीं सी गुड़िया जैसी है, बहुत प्यारी सी। उसे बांहों में भरने का मेरा बहुत मन करता है, लेकिन मैं उसे भरूंगी नहीं। वह गुड़िया मेरे पड़ोस में रहती है। उस घर के लोग जब नैनिताल घूमने गए, तो किसी पंसारी की दुकान से अपने यहां लेते आए। कई हज़ार में खरीद कर लाए थे। आख़िर पन्द्रह-बीस लोगों का कुनबा भी तो था। तीन-चार बेटे-बहू और तीन-चार बेटियों के अलावा और भी दो-चार लोग थे। वो घर-भर के झाड़ू बुहारी, चौका-बासन करती। मिठाई के बदले गाली खाती और साथ खाती घर भर की जूठन। कभी एक की कभी दूसरे की। कपड़े भी उसे जूठन के ही मिलते घर की बेटियों के साथ जब उसने युवावस्था में प्रवेश किया तो वह सोचती कि मैं ही सबकी जूठन क्यों खाती हूं। सभी उससे लात-घूसों से बात करते। ब्याह के बाद जब घर की बेटी ससुराल को जाती तो उसे ढेर सारे कपड़े जूठन के रूप में पहनने को मिलते और उसके कानों में कई सारे जुमले गूंज उठते 'ले पहन पर। ऐसी जूठन तो कर्मों वाली को मिलती है।' पूछते-पूछते कि 'ये कौन है?' 'ये कलमुंही है।' जवाब मिलता। लेकिन वे फटी-फटी आंखों से उसे देखते रहते। उसकी शोख-चंचल आंखें, मोतियों से दांत, गुलाबी होंठ, कानों से बातें करती भौहें, उन्नत उरोजों पर झूमती मोती की माला, जतन से तराशे नाखून और सबसे बढ़कर उसकी मादक हंसी किसी को भी मोह लेती।

जब उस घर की सबसे छोटी बेटी का ब्याह होने को था, तो मेंहदी-तेल की रस्म के लिए जब वह दूल्हे मियां के घर पहुंची, तो उस हुस्नपरी को चोरी-छिपे बांहों में भरने के लिए दूल्हा बेचैन हो उठा। वह उसे अपने कमरे

में ले गया, उसकी शोख़ निगाहें पूरी दास्तां कहने लगीं। वह लौट आई। उसका बदन आग की तरह तप रहा था। दूसरे दिन जब ब्याह की रस्म पूरी हो गई तो उसने दुल्हन बनी उस घर की बेटी से कहा, 'दीदी, तुमसे मुझे बहुत ज़रूरी बात कहनी है।' 'मत पड़ने देना इस मनहूस का साया।' लेकिन दीदी ने कहा, 'हां, हां कहो।' वह उसके कानों में फुसफुसाई 'तुम्हारा दूल्हा, मेरी जूठन है। ऐसी जूठन सिर्फ़ कर्मों वाली को मिलती है।'

23

वागदान

दिल्ली की अमीराना बस्तियों में उन दिनों गेटनुमा जंगले नहीं हुआ करते थे। ये कॉलोनियां, ये बस्तियां वास्तव में दिलवाले अमीरों की हुआ करती थीं। किसी का नाम चांदी वाला होता था, तो किसी का नाम हीरे वाला। हर इतवार को छोटे-मोटे पार्कों में यूं ही दावतें हो जाया करती थीं। सभी के घर से कुछ न कुछ पक कर आ जाया करता और सब मिल कर साथ-साथ खाते। महिलाएं उन दिनों घर से बाहर नहीं निकला करती थीं, इसलिए वे किसी एक घर में इकट्ठी हो जाती। माथे तक घूंघट काढ़ कर बैठा करती। खाना खाती। और सबसे ज़्यादा बखान वे अपने 'उनका' करती थीं।

कभी-कभार बन्दर-भालू वाले भी तमाशा दिखाने आ जाते और कुछ हाथ कठपुतलियां नचाते। सब्ज़ी-फल तो दुकानों से घर में भिजवा दिए जाते। फ़िरोज़ाबादी चूड़ी पहनाने वाली भी घर पर आ जाती। लेकिन कबाड़ी वाले की आवाज़ हर छुट्टी के दिन अक्सर कानों में गूंज जाती अख़बार, घी के टीन, ख़ाली बोतलें, बच्चों के टूटे-फूटे खिलौने उसे दे दिए जाते। मुझे आज भी याद है कि एक कबाड़ी अपने कंधों पर ढेरों बोझ लादकर हांफता-हांफता चलता, और उसके पीछे-पीछे उसका पांच-छह बरस का बेटा नाक सुड़कता और चीखट-मैली कुचैली कमीज की बांहों से पोछ लेता। सभी उसे 'सुड़का' कहते थे। वो किसी की बात का बुरा नहीं मानता। और मन ही मन सोचता कि एक न एक दिन ये सुड़का राजा बनेगा। एक दिन की बात है। पास वाले आंगन से सुड़का और उस कबाड़ी की रोने की आवाज़ आई, और घर के मालिक की शेर जैसी गर्जना सुनाई पड़ने लगी। 'साले, बदमाश, चोर-उचक्के तूने हमारी रानो की चाबी वाली गुड़िया चुराई।' दोनों बाप-बेटे गिड़गिड़ाकर कह रहे थे, 'हुजूर-माई-बाप। हमने तो गुड़िया देखी ही नहीं।' उन दोनों को

लात-घूंसों से पीटा जा रहा था। आस-पास के लोगों ने बीच-बचाव किया। जब भीड़ छंट गई तो मैं उन दोनों को अपने घर ले आई। डॉक्टर साहब को बुलाकर उनकी दवा-दारू की, और कुछ खाना खिलाया। उन दोनों को रोकने की कोशिश की। वे दोनों गिड़गिड़ाने लगे, 'आपकी लंबी उमर हो। हमारी उमर भी आपको लग जाए। हम आपकी गुलामी करते रहेंगे।' 'ऐसा क्यों कहते हो, रे सुड़के। तुम बहुत अच्छे लड़के हो। तुम पढ़ोगे। बड़े आदमी बनोगे। ये तो वक्त-वक्त की बात है।'

इस घटना के बाद किसी ने भी उन दोनों को नहीं देखा। महीने भर बाद पता लगा कि पास वाले घर की बेटी खेलते-खेलते अपनी गुड़िया को अपनी छत पर छोड़ आई थी। नाहक ही उस बेचारे ग़रीब पर ऐसा अत्याचार हुआ। गरीबों की भी इज्ज़त होती है।

एक दिन की बात है। मैं अपने बरामदे में अख़बार के पन्ने उलट-पलट रही थी। मुझे एक प्यारी-सी आवाज़ सुनाई पड़ी। 'नमस्ते माँजी।' 'नमस्ते मैडम।' मैंने देखा सुड़का और उसका पिता गेट पर खड़े थे। 'आओ न अन्दर।' मैंने कहा। मैंने उनके लिए कुर्सियां मंगवाई। उनके साथ बैठकर चाय पी। वे दोनों बहुत साफ़-सुथरे कपड़ों में थे। 'अब यह शहर छोड़कर जाते हैं। आपका शुक्रिया अदा करने चले आए। यह शहर रहने लायक नहीं है।' मैं अन्दर जाकर कुछ रूपये लिफ़ाफे में रखकर ले आई, और उन दोनों की ओर बढ़ाते हुए बोली, 'यह रख लो। सफ़र में काम आएंगे।' बहुत हील-हुज्जत के बाद मुझे सुनाई पड़ा, 'आपकी लंबी उमर हो। आपका नाम दूर-दूर तक फैले। ये रूपये मैं आपको सूद समेत लौटा दूंगा।' मैं उन्हें गेट तक पहुंचाने गई और तब तक वहीं खड़ी रही जब तक कि वे मेरी आंखों से ओझल न हो गए।

पन्द्रह बरस बाद एक कार मेरे घर के सामने आकर खड़ी हुई। उसमें से एक नवयुवक उतरा, और बैठक में आकर बोला, 'नमस्ते माँजी।' इससे पहले की मैं उसे 'सुड़का' कहती, उसने कहा, 'मैं अमित हूं। मेरा पहले वाला नाम उसी दिन बहुत पीछे छूट गया था जिस दिन आपने मेरे घावों पर मरहम लगाई थी। उस दिन हमने ढेर सारी बातें कीं, जिसका मतलब था, पापा ने कोई बड़ा व्यापार शुरू किया। मुझे स्कॉलरशिप मिला। और मैं अब बम्बई जाऊंगा। पापा भी वहीं जाएंगे। बस इस बीच माँ का स्वर्गवास हो गया। आप भी बम्बई आइऐगा। यदि छोटा मुंह बड़ी बात न हो, तो हमारे यहां रूकियेगा। 'ज़रूर आऊंगी।' एक बार फिर मैं तब तक गेट पर खड़ी रही जब तक की उसकी कार मेरी नज़रों से ओझल न हो गई।

ऑफ़िस के किसी काम से जब मैं बम्बई गई, तो मैं सबसे पहले अमित के घर गई। वह तीन मंजिले किसी आलीशान घर के पास खड़े थे। गेट पर

जो पत्थर लगा था, उस पर लिखा था, 'घर'। गेट पर बैठा दरबान मुझे अन्दर ले गया। अमित ने मुझे बांहों में भर लिया, 'अरे माँजी।' 'टेलीफोन कर दिया होता तो मैं आपको लेने आ गया होता, मालकिन।' 'मैं कहां की मालकिन हूं।' 'आप ही तो असली मालकिन हैं। ना केवल इस घर की, बल्कि मन की भी। ये सब आपके दिए हुए उन हज़ार रूपयों की ही बदौलत है। मैंने कई बार सोचा आपको वो रूपये लौटा दूं। मैं ऐसा कर नहीं सका। आपने तो हमें ज़िन्दगी दे दी।' मैंने उनका वैभव देखा, और उन्हें दुआएं देने लग गई। खाना-खाते समय मुझे पता चला कि अमित किसी से प्यार करता है, और वह लड़की उसके......। अमित ने बताया कि आप कहें तो लड़की के माता-पिता को आपसे मिलवा दूं। वैसे पापा भी उनसे नहीं मिले हैं। वे यही कहते रहे कि माँजी को दिल्ली जाकर ले आओ। तो फिर ये मंगल काम हो। मैंने हामी भर दी। निश्चित समय पर जब पांच-छह कारों से कुछ लोग उतरते दिखाई दिए और अन्दर आए, तब अमित ने लड़की के माता-पिता से परिचय कराया। ये क्या ये तो कुछ जाने-पहचाने चेहरे हैं। दिल्ली, सुड़का, भार ढोता उसका बाप, और उन दोनों की जमकर पिटाई। लड़की के माता-पिता ने भी मुझे पहचान लिया और पहचान लिया अमित के पिता को भी। 'अरे बहन जी आप!' 'अरे तुम हरामज़ादे, कमीने, कबाड़ी' कुछ स्वर गूंज उठे। 'खबरदार जो आगे एक शब्द बोले। मैं चाहूं तो तुम्हें अभी अपने कुत्तों से नुचवा सकता हूं। हंटरों से पिटवा सकता हूं। पर ऐसा करूंगा नहीं। तुम्हारी बेटी मेरे बेटे के बच्चे की माँ बनने वाली है।' वागदान की रस्म की जो तैयारी हुई थी वह तो पूरी हो गई, और खुशी के दिये भी जलने लगे, और शहनाई भी बजने लगी। पर लड़की के पिता का चेहरा देखकर लगता था कि आज उसकी पिटाई हो रही है। वही तमाचे उसे पड़ रहे हैं जो बरसों पहले उसने अमित के पिता को मारे थे।

24

बाबुल का घर

जब-जब भी मैं बाबुल के घर की बात सुनती; पढ़ती या गुनगुनाती हूं, तो मैं उस रेगिस्तान में पहुंच जाती हूं, जहां दूर-दूर तक बूंद भर पानी का नामो-निशान भी नहीं होता। जैसे-जैसे वक़्त गुज़रता जाता है और लोग सभ्यता के चक्रव्यूह में फंसते जाते हैं, वैसे-वैसे सभी घर रेगिस्तान बनते चले जाते हैं। भले ही वह बाबुल का घर ही क्यों ना हो।

अब लगता है कि सब पुराने ज़माने की बातें हैं, जब बेटी महीनों तक घरवालों से छिप-छिपकर मायके जाने की तैयारी किया करती थी। भाई-भतीजे के जोड़े भाभी के लिए साड़ी और गांव भर के लिए मिठाइयों से लद-फ़द कर जब वह मायके पहुंचती थी, तो हर घर खुशी में झूम उठता था, और जब वह लौटती तो तरह-तरह के पापड़-बड़ियां, अचार-मठरियां, घर भर के जोड़े उसके साथ चला करते थे। बेटी को विदा करते समय गांव भर के लोग उसके साथ-साथ वहां तक चला करते, जहां तक वे जा सकते थे। अब तो हाल ये है कि बेटी की विदाई पांच-सितारे होटल से होती है। बाबुल का घर कहीं नहीं होता। शादी के बाद रस्म अदायगी के लिए वह मायके आती ज़रूर है, लेकिन सभी रिश्ते पानी में तैरती काग़ज की नाव की तरह गल जाती। ना बाबुल को बेटी की ज़रूरत है और ना बेटी को बाबुल की। घोर सूरते में, आंधी और तूफ़ान में बेटी अपनी ज़िंदगी अकेले ही तय करती है। हाल ही में, बीमारी के दौरान जब मेरे ननिहाल का एक व्यक्ति मुझे अपने घर लिवाने के लिए आ पहुंचा, तो मेरी आंखें नम हो आईं। मैंने लाख उनसे कहा कि 'मेरी तैयारी नहीं है।' तो उस व्यक्ति ने तपाक से कहा कि 'वहां साड़ियां भी हैं और कपड़े भी। डॉक्टर भी हैं और दवा-दारू भी, बस तुम चलो।' मैं अपनी रोगी काया को साथ लेकर चल पड़ी। ननिहाल की आवभगत देखकर

मैं सोचने लगी कि राजा जनक ने विवाह के बाद सीता को भी अपने यहां नहीं बुलाया। फिर ये तो मेरी ननिहाल है। उन लोगों के प्यार-दुलार से मैं हफ़्ते भर में भली-चंगी हो गई। मैं तो बाबुल का घर ढूंढ रही थी, उस आलीशान घर के दरवाज़े पता नहीं क्यों उखड़े रहते थे। अचानक से मुझे मिल गए मामे-मामियां और उनके हंसते-मुस्कराते बच्चे। छह महीने बाद ढेर सारी साड़ियां और ढेर सारे फल-मिठाई लेकर जब मैं लौटी तो एक बार फिर बरसाती झरने की तरह मेरी सुस्त काया सरपट दौड़ने लगी। मैं यही सोचती रही कि कलयुग में क्या इस तरह के ननिहाल का होना संभव है।

मैं फिर से बाबुल का घर ढूंढने निकल पड़ती हूं लेकिन वह मुझे कहीं दिखाई नहीं देती। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक मैंने कोना-कोना छान मारा लेकिन मुझे कहीं भी बाबुल का घर नहीं मिला, जहां बेटियों को प्यार-मनुहार से बुलाया जाए। बेटी यदि अपने आप जाती भी है, तो उससे यही पूछा जाता है कि 'तू कब तक जाएगी।' पापड़-बड़ियां, अचार-चटनी की तो बात ही दूर। पता नहीं क्यों बाबुल के घर के लोग बेटी को परदेस भेजकर एक बार भी उसे याद नहीं करते कि वह कहां रहती है और किस हाल में रहती है। फिर मैं सोचती हूं कि उसे बाबुल के घर की ज़रूरत ही क्या है। वह खुद इतनी समर्थ है कि ढेर सारे पहाड़ों को अकेले ही लांघ सकती है। उसकी ज़िन्दगी की रेलगाड़ी बरसों-बरसों चलती रहती है। और उसका चाहा-अनचाहा सब कुछ बहुत पीछे छूट जाता है। आमपलाश, कीकर, बेरियां, रेत के टीले, सागर की सीपियां, खजूर की गुठलियां, रंग-बिरंगे परांदे, तिल्लेदार टोपी, सब कुछ बहुत पीछे छूट जाता है और मैं खुद से कहती हूं कि 'क्यों दुःखी होती हो, बहना। तुम्हारे पास इतना बड़ा दिल है कि जिसमें हज़ारों बाबुल समा जाते हैं।

इतना बड़ा दिल है ना तुम्हारे पास !

25

एक थी पिंकी

बात सपाटों की है, छोटा सा गांव है शिमला की तरफ। दूर-दूर तक इक्का-दुक्का ढलवा छतों वाले घर दिखाई देते थे। आस-पास पहाड़िया, घने जंगल, अनार के पौधे और चश्मदीद गवाहों जैसे कुछ झरने।

गर्मी की छुट्टी में मैं अपने ननिहाल गई। मेरे नाना स्कूल में टीचरी करते थे। मैं बहुत खुश थी क्योंकि घर के लोग मुझ पर इतनी नजर रखते थे कि जेलर भी कैदियों पर क्या रखता होगा। बरामदे में क्यों खड़ी हो, खिड़की क्यों खोल रखी है, दरवाजा बंद कर दो, छत पर कपड़े सुखाने क्यों गई वगैरह-वगैरह तीखे-तीखे उनके स्वर मुझे बेध देते थे।

मैं 12-13 वर्ष की अल्हड़ किशोरी थी जिसे यह सब बातें समझ में नहीं आती थी, खिड़की खोल दी तो क्या हो गया, छत पर चली गई तो कौन-सा तूफान आ गया, कम से कम चन्द रोज ही सही इन झंझटों से तो मुक्ति पा जाऊंगी। नानी के घर में कुल जमा दो कमरे थे कुछ खिड़कियां एक-एक पल्ले की थी और किसी-किसी चौखट से दोनों पल्ले नदारद थे! सर्दी से बचने के लिए रात को टाट लगा दिए जाते थे। घर से दस-बारह सीढ़ियां नीचे एक और छोटा-सा घर था। जिसे देखकर लगता था कि उस घर के मालिक आला अफ़सर होंगे। जब मेरी नानी मलेशिया के पाजामों की सीवन को आंखें गड़ा-गड़ाकर दुरूस्त कर रही होती थी तो पड़ोस वाली मालकिन अपनी बेटी पिंकी के साथ टेनिस खेल रही होती। मैंने पहली बार टेनिस देखा था मेरी आंखें खुली की खुली रह गई। "जा ना पिंकी के साथ खेल" मैं अपने दुपट्टे को अंगुली में लपेटते हुए शर्माते-शर्माते पिंकी के घर पहुंच गई। सिर से पैर तक उसने मुझे देखा और वह मुझे भांप गई। "आओ ना गिट्टो-गिट्टो खेले सटापू" उसके पास सुंदर-सुंदर पेंट किए हुए रंग-बिरंगे गिट्टो थे उन्हें भी मैंने

पहली बार देखा था अब तक तो मैं खजूर की गुठलियों के साथ यह खेल खेला करती थी। मैंने उसे दो गेम में हरा दिया और सटापू में भी, पिंकी खिन्न हो गई उसने कहा—"हुण तुस्सी आपणे कार जाओ जबदो मेनू खेलणो होवेगा मैं तुआनू सटपेजागी" उसके बाद मेरी पिंकी से मुलाकात नहीं हुई। मैं अपने नाना मामाओं के साथ तराइयों तक जाती। वहां के खोके में बीड़ी बेचने वाला चाय भी बनाता था और साथ में दूध की बर्फी भी। नाना बहुत कंजूस थे मुझसे कहते तुम तीनों लोग दौड़ लगाओ जो अव्वल आएगा उसे एक बर्फी और चाय इनाम में मिलेगी। हम 'दाना मेल' की चढ़ाई-उतराई बर्फी और चाय के लालच में पूरी कर देते। लौटते वक्त हम लोग कच्चे-पक्के अनार भी तोड़ लाते और हरे अखरोट भी।

आज मैं सोचती हूं कि वो भी क्या जमाना था कि इनाम में मिली बर्फी और चाय खा-पीकर हम इस कदर झूम उठते थे और आज पुरस्कारों की जोड़-तोड़ करते-करते जब बरसों गुज़र जाते हैं तब मन आहत हो जाता है और लोग एक-दूसरे को धकेलने में लग जाते हैं। लेकिन हमने किसी को नहीं धकेला था, नाना सभी को बर्फी खिलाते कच्चे-पक्के अनारों से बने अनारदाना हमारे लिए चटनी बना देता था। और हरे-हरे अखरोट कई दिन बाद भी दूधिया महक देते थे।

मेरी आंखों के सामने सपाटो इसलिए सुंदर था क्योंकि वहां हरियाली थी, वहां पिंकी थी और था पिंकी का टेनिस। एक बार जब मैं लंदन के हीथ हवाई अड्डे पर उतरी तो मुझे ऐसा लगा जैसे कोई जाना-पहचाना चेहरा मुझे घूर रहा है। मोटी थुलथुल पिंकी गहनों से लदी हुई थी। हमेशा की तरह मैं दुबली-पतली थी और मैं सिर्फ रिस्ट वॉच को ही अपना आभूषण समझती थी। "क्या तुम पिंकी हो?", "हां", "क्या तुस्सी आप जी हो?" "हां" मैंने कहा। बाद में पिंकी ने मुझे जो बताया वह यह था—कि अब तो मैं चूल्हा फूंकती हूं बच्चों की पलटन संभालती हूं और टेनिस को मैंने आपके हवाले कर दिया है। मुझे लगा कि उसी पिंकी के साथ कभी मेरा इगो हर्ट हो गया था और उससे मैं दोबारा नहीं मिली थी। अब मुझे ऐसा लगा था कि वह सहज है, बहुत सहज मुझे उससे दोस्ती कर लेनी चाहिए। क्या मैं कर पाऊंगी? मैंने अपना विजिटिंग कार्ड उसे थमाया और आगे चली गई।

26

रसोई

शन्नो को उस करारे झापड़ की याद आज तक है। तब वह बहुत छोटी-सी थी, सात-आठ बरस की। रसोई-रसोई खेला करती थी। रसोई थी तो बर्तन भी थे, बर्तन थे तो खटर-पटर भी होती और गुड़िया का ब्याह भी रचाया जाता था। वह चिकनी मिट्टी को आटे की तरह गूंदकर बर्तन बनाती, खुखाती, और कूची से चित्रकारी कर देती। चकला, बेलन, तवा-कड़ाही, पतीला-डोलची, चूल्हा-चक्की, छोटे-बड़े चम्मच और छोटी-छोटी कटोरियां। वह मन ही मन पकाती, मन ही मन परोसती। और मन ही मन बोल-बोल कर खिलाती। कहती, "यह थाल मेरे भईया का, यह थाल मेरा, यह थाल बाबूजी का और यह थाल है माँ का।" वह अपनी ही दुनिया में मस्त थी। उसे पता ही नहीं चला कि कब उसके बापू उधर से गुज़रे और कब उसके गाल पर सनसनाता तमाचा पड़ा। "अरे मूरख, अम्मा का थाल सबसे बाद में परोसती है। वही तो इस घर की लक्ष्मी है। पहले अम्मा का थाल परोस। फिर मेरा और फिर भईया का उसके बाद अपना" उसकी आंखों से बहता दरिया गालों पर सूख गया और वह हिचकियां भर-भर कर वहीं गोबर से लिपे-पुते आंगन में सो गई। "अरी स्कूल नहीं जाना क्या? सूरज सिर पर आ गया है।" अम्मा की आवाज़ से आंखें मलते-मलते वह जाग गई। उसका सिर बहुत भारी था। वह कुछ नहीं बोली और अन्दर जाकर खटिया पर पड़ गई। रह-रहकर उसे अम्मा पर गुस्सा आता जिसकी वजह से बापू ने उसे तमाचा रसीद किया था। उसने रसोई के सभी बर्तन डोलची में डाले, और गांव की छोटी-सी नदी की ओर चल पड़ी। ज़ाहिर है कि उसने उन बर्तनों को नदी में बहा दिया था। और वह चुपचाप अपने बर्तनों को पानी में गलता देख रही थी। फिर उसने सोचा अफ़सोस किस बात का। मिट्टी के बर्तन मिट्टी में मिल गए।

वह दिन और आज का दिन वह न तो रसोई खेली और न ही किसी के लिए खाना परोसा। बनारस वाली बुआ और हरिद्वार वाली मौसी उसके लिए लकड़ी के रंग-बिरंगे बर्तनों वाली पिटारी ले आयीं और उसके भाई के लिए बैलगाड़ियां। लेकिन उसने रसोई नहीं बनाई। "खाना बनाना नहीं सीखेगी तो ससुराल में हमारी नाक कटाएगी।" अम्मा गरजती-बरसती रहती। "हां, हां, नहीं बनाऊंगी। तुम सबकी नाक कटाऊंगी। टीचर बनूंगी। सब पर शासन करूंगी।" उसने खाना नहीं बनाया तो नहीं। वह पहाड़े याद करती, किताबें पढ़ती, स्कूल में अव्वल आती। ब्याह के बाद भी उसने कभी खाना नहीं बनाया। ससुराल में जब खुसर-पुसर होती तो वह जोर-जोर से चिल्लाती, "नहीं पकाऊंगी खाना। तुम सबके लिए आठ हज़ार रुपया महीना लाती हूं। ज्यादा कुछ कहोगे तो मैं तुम्हें छोड़कर चली जाऊंगी। तुम लोग कौन-सा मुझे 'पद्मश्री' देने वाले हो।" और उसने कभी खाना नहीं बनाया अब घर में बहुंए आ गई थी। वही रसोई संभालती थी।

एक दिन की बात है। उनकी छोटी बहू खाना परोस रही थी और कह रही थी "यह थाल मेरा, यह थाल बबुआ का, यह थाल बबुआ के बापू का।" और बड़ी बहू कह रही थी, "यह थाल मेरा, यह थाल बचुवा का, यह थाल बचुवा के बापू का, यह थाल बाबूजी का और यह थाल अम्मा जी का।" शन्नो आग-बबूला हो गई, "तुम लोगों की ये मजाल कि मेरा थाल सबसे बाद में परोसोगी। जब से इस घर में आई हूं। तीस लाख रुपये कमा चुकी हूं। तुम्हें सबसे पहले मेरा थाल परोसना चाहिए।" उसने आव देखा न ताव सारी रसोई बिखेर दी, और समुद्र की तरफ चली गई। उसे लगा एक बार फिर वह बचपन की रसोई को खारे पानी में बहा रही है।

27

तोशी

तोशी से अचानक ही मेरी मुलाकात हो गई थी। पता नहीं कितने सालों बाद शायद 10-12 या उससे भी ज्यादा हवाई जहाज में यात्रा करते समय वो मेरे सामने नाश्ते की ट्रे लिए खड़ी थी। अंग्रेजीनुमा उच्चारण में वह हिंदी बोल रही थी। उसका चेहरा कुछ जाना-पहचाना था फ्रॉक पहनने वाली गुड़िया जैसी तोशी अब मेरे सामने विमान कन्या के रूप में खड़ी थी। उसके माता-पिता की मेले में खो जाने की खबर मुझे मिली थी। कुंभ का मेला था मातृ-पितृ विहीन कन्या को संभालने वाला कोई नहीं था। स्कूल की प्रिंसिपल ने उसे गोद ले लिया था। पढ़ने में वह बहुत अच्छी थी हमेशा अव्वल रहती। बारहवीं में प्रथम आने पर प्रिंसिपल साहिबा ने एक शानदार पार्टी दी थी जिसमें मैं भी शरीक हुई थी। "अब क्या करोगी तोशी?" मैंने पूछा था "मैं एयरहोस्टेस बनूंगी" उसने जवाब दिया।

प्रिंसिपल साहिबा उसे गढ़ने में लग गई थी। बातचीत का तौर-तरीका, वस्त्र-विन्यास और केश-सज्जा होठों पर मंद-मंद मुस्कान वह सब कुछ बहुत जल्दी सीख गई थी मुझे पता चला कि वह धीरे-धीरे अपने गंतव्य की ओर बढ़ रही है। तोशी मेरी बेटी के साथ पढ़ा करती थी उसका पूरा नाम संतोष था लेकिन वह कहा करती कि मुझे 'तोशी' पुकारा करो। वह अपनी हर सफलता की खबर मुझे सुनाती और मैं खुशी से झूम उठती। वह किसी बड़ी पोस्ट पर पहुंच चुकी थी उसने बताया कि अब वह 'एयरहोस्टेस' बन चुकी है। वह आकाश मार्ग से उड़ने लगी थी। प्रिंसिपल साहिबा ने फिर एक दावत दी थी। मेरे सामने तोशी की जिंदगी के पन्ने फड़फड़ाने लगे थे। वह कहने लगी "Take Off के बाद हम लोग Longe में मिलेंगे" मैंने अपनी मौन स्वीकृति दे दी थी। चाय पीते समय उसने जो बताया वह यह था-"प्रिंसिपल

साहिबा मेरी शादी करना चाहती हैं लेकिन इसमें मेरी कतई दिलचस्पी नहीं है मैं उन्मुक्त उड़ान भरना चाहती हूं। किसी प्रकार का बंधन मुझे पसंद नहीं उनका मुझ पर बहुत ऋण है कैसे उतारूंगी।"

मैं उससे क्या कहती मेरे पास उसके सवालों का कोई जवाब नहीं था। एक दिन की बात है शाम के धुंधलके में किसी ने कॉलबेल बजाई मेरे सामने प्रिंसिपल महोदया खड़ी थीं। "अरे आप! आइए-आइए, अंदर आइए।" वह यंत्रवत मेरे पीछे-पीछे चली आई। उनका चेहरा उतरा हुआ था उन्होंने कहा "तोशी पता नहीं कहा चली गई मैं तो उसे घर बसाने के लिए कह रही थी, मेरी जिंदगी का क्या भरोसा अकेली वह कहां मारी-मारी फिरेगी और वह मेरे स्नेह के पिंजरे को तोड़ कर हमेशा के लिए चली गई। अब मैं उसे कहां ढूंढू?"

"कहाँ ढूंढोगी दीदी, जैसे वह तुम्हारे पास आई थी वैसे ही चली गई, और जैसे ही चली गई वैसे ही आ जाएगी।" प्रिंसिपल साहिबा अपने मन का बोझ मेरे कंधों पर डालकर चली गई।

बहुत दिन गुजर गए एक दिन अखबार में मैंने पढ़ा कि तोशी को पद्‌मश्री मिलने वाला है, वह जहां कहीं भी होगी दिल्ली आएगी। प्रिंसिपल साहिबा से भी मिलेगी शायद मुझसे भी। इस बार प्रिंसिपल साहिबा ने एक और दावत दी थी नहीं जानती तोशी के लौटने की या उसे पद्‌मश्री मिलने की।

28

गुड्डी

गुड्डी का असली नाम क्या था मैं नहीं जानती सभी उसे गुड्डी-गुड्डी कहा करते थे। मैं भी उसे इसी नाम से पुकारने लगी। वह मेरे पड़ोस में रहती थी। उस घर में चार ही प्राणी थे—पति-पत्नी और दो बच्चे—गुड्डी और भईया।

पंडिताइन दिन भर रसोई में लगी रहती और पंडित जी दफ़्तर के बाद बांसुरी बजाने में लगे रहते। गुड्डी मूक थी लेकिन बधिर नहीं भईया की भी दिमागी हालत उतनी अच्छी नहीं थी वो बात-बात में पैसे मांगने की जिद करता "मुझे पैसे दो नहीं तो मैं खिड़की से कूद पड़ूंगा", "पैसे नहीं दूंगी भले ही कूद जा"। पंडिताइन कहती और भईया सचमुच ही पहली मंजिल की खिड़की से कूद पड़ते। मोहल्ले भर में कोहराम मच जाता, पंडिताइन रोते-रोते कहती "अब तो तू ठीक हो जा रे जितना चाहे पैसा ले लेना, मुझे क्या पता कि तू सचमुच कूद पड़ेगा।" चंद दिनों में भईया ठीक हो गया, पंडिताइन ने जी भर कर लड्डू बांटे।

मैं गुड्डी की बात कर रही थी। गुड्डी उन दिनों फ्रॉक पहना करती पंडिताइन की देखा-देखी साड़ी लपेट लेती, बिंदी लगाती, कांच की चूड़ी पहनती, माथे तक घूंघट काढ़ती और ओ-ओ करके कुछ गाती, कभी मुस्कराती और कभी नाचती। चाय की तलब उठने पर माथा पकड़ कर बैठ जाती। और खाने की तलब होने पर पेट पकड़कर बैठ जाती। जब वह किशोरी हुई तो वे दिन भर घूंघट काढ़े रखती, संकेतमयी भाषा में अपने दूल्हे की बात करती और पंडिताइन के साथ लिपट जाती।

जैसे-जैसे वह बड़ी होती गयी, उसकी हरकतें भी बढ़ती गई। वह फटे-पुराने साड़ी के बच्चे बनाकर कभी एक को गोद में बैठाती, दूसरे को

सुलाती और तीसरे को आंचल में ढककर दूध पिलाती। उसे लगता कि उसके बच्चे बड़े हो गए हैं। वह बच्चों का ब्याह रचाती काल्पनिक बहुओं से झगड़ा करती, अपने बाल नोचती और किस्मत को कोसती। पता नहीं इस बात को कितने वर्ष गुजर गए, मैंने सुना कि अब वो बूढ़ी हो चुकी है, चल-फिर नहीं सकती लेकिन पंजों के ऊपर चलने के बावजूद वो अब भी अपनी काल्पनिक नाती पोतों के सहारे जिंदा है।

बीच-बीच में मुझे पता चलता रहता है कि गुड्डी के चेहरे पर झुर्रियों का जाल बिछ गया है। उसके काले बाल पक चुके हैं, उसके हाथ कांपने लगे हैं। खाली वक्त में या भरे वक्त में वो अब भी चांद सितारों को ताका करती है उसने अपनी पूरी जिंदगी अपने काल्पनिक गुड्डे, गुड्डियों, काल्पनिक बेटों, बेटियों, बहुओं-दामादों नाती-पोतों के सहारे काट दी। कभी बिंदी लगाकर शीशा देखकर, मेंहदी रचाकर, घूंघट काढ़कर और कभी अपना सिर पीटकर वह जैसी भी है मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती है और कहती है तुम मुझे देखो न मुझ पर कुछ लिखो न।

29

गुरु दक्षिणा

बहुत पुरानी बात है। विश्व के नामी विश्वविद्यालय के नामी प्रोफ़ेसर ने जब अपनी कक्षा में यह घोषणा की, कि वे पढ़ाना छोड़कर सिर्फ़ लिखेंगे तो उनके सभी छात्र-छात्राएं सकते में आ गए। सभी ने उन्हें मनाने की कोशिश की, लेकिन उनका निर्णय पत्थर की लकीर जैसा था। अब वे घर बैठकर लेखन कार्य करने लगे। छात्र-छात्राएँ आठ-दस दिन में उनके यहाँ जाते। कुछ फल ले जाते। उनसे कविताएँ सुनते। गुरु पत्नी सभी बच्चों के लिए खाना पकाती-परोसती। प्रोफ़ेसर को वे सभी छात्र बहुत प्रिय थे। इसी तरह समय बीतता गया। सभी छात्र अपने-अपने कार्य क्षेत्र में चले गए, लेकिन गुरु जी के पास उनका आना-जाना बराबर बना रहा। सभी के चेहरे खिल उठते और प्रोफ़ेसर के मुख-कमल की सुगन्ध चारों ओर फैल जाती।

एक दिन की बात है कि बिजली के तार में शॉर्ट-सर्किट हो जाने से प्रोफ़ेसर साहब का पूरा घर जलकर राख हो गया। और वे दोनों पति-पत्नी पेड़ की छाया तले जाकर रहने लगे। जब उनके शिष्यों को ये पता चला तो वे भागे-भागे आए। उन सबने गुरुजी के लिए लकड़ी का एक खोखा बनाया। खोखा इतना ही था कि जिसमें चार लोग समा सकते थे। कविता सुनने-सुनाने का क्रम अब भी जारी था। प्रोफ़ेसर और गुरु-पत्नी के अलावा केवल दो छात्र ही उसमें बैठ सकते थे। बरसात के दिनों में बारी-बारी से कुछ छात्र भीतर आते और कुछ बरसात में भीगते रहते। काव्य पाठ और साहित्य गोष्ठी का कार्यक्रम रात भर चलता रहता।

एक दिन की बात है। सभी छात्र खुशी-खुशी गुरुजी के पास गए और कहा कि अब हमने आपके लिए एक दूसरी जगह ढूंढ ली है। और वे उन्हें कार में बिठाकर अपने साथ ले गए। कार एक आलीशान घर की पोर्टिका में

जा खड़ी हुई। रंग-बिरंगे फूल-पौधे, हरी-भरी घास, लहलहाते वृक्ष और चार कमरे। एक छात्र ने सहमे-सहमे कहा क्षमा कीजिएगा गुरुजी। हम सब छात्रों ने मिलकर ये घर आपके लिए बनवाया है। आप कृपया स्वीकार करें। गुरु और गुरु-पत्नी की आंखों से अश्रु धारा फूट निकली, जिसमें छात्रों के नेत्र भी शामिल हो गए। अब क्या था, इतनी बड़ी जगह में आराम से गोष्ठियाँ होने लगी। अब छात्रों-छात्राओं के विवाह हो चुके थे। वे अपने-अपने परिवारों को साथ लेकर गुरुजी के पास जाते। दम्पत्ति सोचता कि उनके यहाँ बेटे-बेटियाँ, बहुएँ और दामाद आ गए हैं। शादी हो गई तो बच्चे भी होने ही थे। अब, सभी छात्र-छात्राएं अपने-अपने बच्चों को लेकर गुरुजी के पास जाने लगे। सारा घर महक उठता। बच्चों से कहा जाता कि ये हमारे गुरुजी हैं। इन्हें प्रणाम करो। विशेष रूप से उनके जन्मदिन पर जश्न मनाया जाता। वक़्त बीतता गया। प्रोफ़ेसर साहब लिखने में व्यस्त रहे। छात्र-छात्राओं के बच्चों के भी बच्चे हो गए। अब वे सभी अपनी तीसरी पीढ़ी को साथ लेकर गुरुजी के पास जाते और बच्चों से कहते 'ये हमारे गुरुजी हैं, इन्हें प्रणाम करो।' अब तीन-तीन पीढ़ियाँ मिलकर गीत गाते। जन्मदिन में चार चाँद लग जाते। अब उनकी संख्या पचास हो चुकी थी। गुरु भक्ति का ऐसा उदाहरण मैंने कभी नहीं देखा और न सुना, और अब प्रोफ़ेसर साहब की काया शिथिल हो चली थी। वे कुर्सी पर बैठे रहते।

एक दिन की बात है। किसी छात्र को ये पता चला कि गुरुजी के घर के साथ वाली ज़मीन पर कोई बिल्डर दस मंज़िली इमारत बनवा रहा है। छात्रों ने सोचा कि यदि इमारत बन जाएगी, तो गुरुजी के घर में धूप नहीं आएगी। धूप नहीं आएगी तो वे बग़ीचे में बैठकर लिखेंगे कैसे। उनके शिष्यों की तीन पीढ़ियाँ मिलकर बिल्डर के पास गई और उनसे कहा कि जितनी रकम तुम फ्लैट से कमाओगे, उतनी रकम हम तुम्हें देते हैं। बिल्डर राज़ी हो गया। किसी ने ओवर टाइम किया, किसी ने घर गिरवी रखा, और पचास लोगों की मेहनत ने प्रोफ़ेसर साहब के बगीचे में धूप ही धूप ला दी। आज भी प्रोफ़ेसर साहब धूप में बैठकर लिखने की कोशिश करते हैं। वह धीरे-धीरे बोलते और तीसरी पीढ़ी उन्हें क़लमबद्ध करती है। ऐसे लगता है कि प्रोफ़ेसर साहब के आँखों की ओस की बूँदें सफ़ेद काग़ज़ों पर उतर आई हों।

30

मेरा कोई बाप नहीं

मेरे मित्र की पत्नी जब गर्भवती हुई, तो उनका आँगन खुशियों से भर गया। हर कमरे में सुन्दर-सुन्दर बच्चों की तस्वीरें टाँगी जाने लगी। पत्नी के लिए पकवान बनाए जाने लगे। सभी ये आस लगाए बैठे थे कि बेटा होगा। पर प्रसूति गृह में जाकर पत्नी ने कन्या शिशु को जन्म दिया। सभी उदास हो गए। मैंने उनसे कहा–"उदास होने की क्या बात है। कन्या तो क़ीमती रत्न है।" "अपना ज्ञान मत बघारो।" सबने मेरी बोलती बन्द करा दी। जब कन्या शिशु को माँ के पास लाया गया और सबने बच्ची को उठाया, देखा तो उस बच्ची की दोनों बांहें नहीं थी। हर रिश्तेदार और संबंधी के चेहरे पर उदासी की परत जम गई। एक लड़की जात और दूसरी अपंग क्या होगा। सभी पत्नी को कोसने लगे। पर उसके वश की बात थी क्या! उसे गाली-गलौच और व्यंग्य-ताने सुनाने के बाद घरवालों ने उन दोनों को घर का खुला दरवाज़ा दिखा दिया। माँ-बेटी दोनों एक कोठरी में रहने लगी। बच्ची की मुस्कान माँ को न रिझा सकी। बच्ची ज्यों-ज्यों बड़ी होती गई। आस-पास को देखने लगी। उसे लगा कि उसके हाथ ही नहीं हैं। वह भी गुमसुम रहने लगी।

वह स्कूल जाती बच्चों को देखती और कहती कि मैं भी स्कूल जाऊँगी। पर कैसे जाएगी, कैसे पढ़ेगी, कैसे लिखेगी। लेकिन भाग-दौड़ करके माँ ने उसे किसी तरह दाखिला दिलाया। बच्ची ने सुन-सुनकर सभी पाठ याद कर लिये। अब वह अंगूठे में कलम डालकर धीरे-धीरे लिखने लगी। उसकी लिखाई मोतियों जैसी थी। पढ़ने में अव्वल। और घर के काम में भी। वह घिसट-घिसट कर पैरों से झाड़ू-बुहार करती और सब्जी भी पैरों से काटती, दाल चावल भी पैरों से बीनती। आँच पर रखती। अब माँ खुशी से फूली नहीं समाती। बोर्ड के इम्तिहान में उसे अव्वल स्थान मिला। बाद में बारहवीं में भी।

ऐसी होनहार लड़की को भला कौन कॉलेज में दाखिला नहीं देता। वह पैरों से सिलाई मशीन चलाती, कढ़ाई करती और अपने लिए सुन्दर-सुन्दर कपड़े सिलती। कहना न होगा कि उसे न केवल भारत के शिक्षा विभाग से वजीफ़ा मिला बल्कि विदेशों में भी उसे खूब प्रोत्साहित किया गया। एक दिन की बात है उसने अपनी माँ से कहा—"माँ-माँ अब मैं दुनियां देखने जाऊंगी। दुनियां के हर कोने में अपनी ज़िन्दगी गुज़ारूंगी।" माँ कहती "कैसे जाएगी तू। कैसे तू टिकट ख़रीदेगी। कैसे रेलगाड़ी में जाएगी और कैसे हवाई जहाज़ में। और कैसे खाना खाओगी।" "जाकर देखती हूँ माँ, लौट आऊँगी।" अब वो विदेश भ्रमण को चली गई।

जिस जमाने की मैं बात कर रही हूँ तब कृत्रिम अंगों का प्रचलन नहीं था। हर खुशी और हर दुःख झेलकर उसने पहाड़-मैदान, समुद्र-आसमान सब स्थानों की यात्रा की। सबसे दुःख बांटे। उन सबके लिए पैसा इक्ट्ठा किया, और एक बहुत बड़ा अस्पताल खोला जिसमें उसने लाखों लोगों को एक-एक अंग उपहार में दिया। अब तो उसने अपने लिए भी प्लास्टिक की बांहें ख़रीद ली थी। वह दुनिया की सबसे बहादुर लड़की थी। लेकिन जब वो अपनी माँ के पास जाती तो वह अपनी प्लास्टिक की बाहें उतार देती और माँ से कहती "माँ तुम कितनी अच्छी हो। तुमने मुझे ऐसा ही जन्म दिया। तुम्हारी मैं शुक्रगुजार हूँ। क्योंकि यदि मैं अपंग न होती तो दुनियां कैसे देखती। पैरों से लिखना-पढ़ना कैसे करती और पैरों से खाना कैसे बनाती। तुम बहुत अच्छी हो माँ।" और माँ की आँखों से आँसू छलक पड़ते और वह उसे अपने साथ सुलाकर, लोरी गा-गाकर तब तक सुनाती रहती जब तक कि उसे नींद न आ जाती।

एक दिन की बात है। उसका पिता घर आया। और उससे बोला—"मुझे माफ़ कर दो बेटी।" "तुम कौन हो? मैं तुम्हें नहीं जानती। मेरा बाप तो उसी दिन मर गया था। जिस दिन उसने मुझे घर से निकाला था।" और उसने दरवाज़ा धड़ाम से बन्द कर दिया।

31

ब्याहता

बहुत सुंदर बहू आई थी उस घर में जैसे आँगन में चाँदनी उतर आई हो। गोटे किनारे वाली ओढ़नी में झाँकती मूँगा-मोती वाली नथनी, गुलाब की पंखुड़ियों से होंठ, झकझक सोने के झुमके, काँच की हरी चूड़ियों के बीच नगीने वाले कँगन दोनों हथेलियों को ढकते हथफूल, आलता लगे गोरे पैरों की अंगुलियों में अपनी उपस्थिति दर्शाते हुए बिछुवे, पायल। गौरवर्णी काया पूरे मोहल्ले में धूम मचा गई थी मोहल्ले भर की औरतें और युवतियाँ किशोरी और लड़कियां झूंड का झूंड बनाकर उसे देखने आती। बहू कभी उन लड़कियों को देखती लेकिन उसकी आँखें घूंघट की ओट में उस व्यक्ति को खोजने लगती जिसके साथ उसने सात फेरे लिए थे लेकिन उसका कहीं भी अता-पता नहीं था।

घर में सभी बहुत खुश थे। भाई-भाभियां, भतीजे-भतीजियां, माता और पिता सब यही कहते कि बड़े भाग से ऐसी बहू आती है। सभी वारे-वारे जाते। कई-कई हाथ बहू को एक-एक गस्सा खिलाते। दोपहर से शाम और शाम से रात हो गई। सभी ने खाना-पीना खत्म किया। बहू को उसके कमरे में बैठाकर सभी सोने को चले गए। नई ब्याहता अपने पलंग पर बैठी-बैठी उबासी लेने लगी। मुर्गे ने जब बांग दी तो नशे में धुत एक आदमी कमरे में आया और बोला—"उठ री छम्मक-छल्लो चल मेरे साथ कोठे में मुज़रा कर 20 हजार एक रात के मिलेंगे।" बहू ने घूंघट उठाकर कहा—"यह कैसी बातें करते हो? मैं तुम्हारी ब्याहता हूं।" "ब्याहता की ऐसी की तैसी। चल मेरे साथ।" और वह लाल साड़ी में लिपटी ब्याहता को चुटिया से घसीटता हुआ कमरे से बाहर तक ले आया। "बचाओ, बचाओ" की आवाज़ से पूरा घर जाग गया। "अरे नासपीटे, तू होश में है। अपनी बहू को कोई कोठे पर ले जाता है।" "तूने

इसके साथ सात फेरे लिए हैं। जनम-जनम का साथ निभाने का वादा किया है।" "पता नहीं कैसा राक्षस घर में आ गया है।" "फेरे लिए हैं? किसने फेरे लिए हैं? मुझे कुछ याद नहीं। मुझे तो लगा ये वहाँ मुजरा कर रही है।" और शराबी दूल्हा चक्कर खाकर गिर पड़ा। सवेरा होते-होते यह ख़बर जंगल में आग की तरह पूरे मोहल्ले में फैल गई। सभी छोरियों का झुंड का झुंड आँगन में आने लगा। और फिर से उस आँगन में तरह-तरह की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। "ये कैसी बहू लाई हो री पप्पू की माँ, जो पहली ही रात में अपने पति को वश में न कर सकी।" "दाल में ज़रूर कुछ काला होगा। नहीं तो ऐसा होता।"

ब्याहता ने अपने कान बंद किए और ग़श खाकर ज़मीन में गिर पड़ी। उसे तब होश आया, जब घर की एक बूढ़ी चिल्ला-चिल्ला कर कह रही थी, "पानी की कटोरी में नमक-मिर्च मिलाकर रख दिया है। इसके साथ ये पाँच रोटियाँ ठूस ले।" बाद की जो घटनाएं थीं, वो इस तरह की थी। घर के बड़े बुजुर्गों ने घर की बेटियों का ब्याह कर दिया और बहुओं को पीहर भेज दिया। ये सोचकर कि कहीं ये नासपीटा उन्हें भी कोठे तक न पहुंचा दे। देखा-देखी पास-पड़ोस की बेटियों का भी ब्याह हो गया। अब वो घर क्या पूरा मोहल्ला सूना हो गया। उस शराबी को जब भी होश आता तब भी वो चीख-चीखकर अपनी ब्याहता को यही कहता "चल री छम्मक छल्लो कोठे पर। वहाँ तेरे बहुत यार मिलेंगे। हम भी जान छिड़केंगे।" माँ-बाप इस सदमे को बर्दाश्त नहीं कर सके। किसी को पता भी नहीं चला कि कब दोनों के प्राण पखेरू उड़ गए। शराबी जब घर लौटा तब वह चीख-चीखकर कहने लगा, "कहाँ गए मेरे माँ-बाप? ज़रूर कोठे पर गए होंगे। और तुझ कंजरी को घर छोड़ गए।" और वो ब्याहता की ओर लपका। दुर्बल कही जाने वाली उस औरत में न जाने कैसा जोश आ गया। उसने आव देखा न ताव, उसका एक हाथ पकड़ा और दूसरे हाथ से उसे झापड़ रसीद किया। ऐसा झापड़ की वो औंधे मुँह आ गिरा।

ब्याहता ने अपने ज़ेवरों के साथ उस घर के कागज़ात भी बटोरे और चीख-चीखकर पड़ोसियों को बुलाने लगी। एक बार उस आँगन में भीड़ जमा हो गई। आज वह शेरनी के समान गरजी, और बोली, "अरी बहू-बेटियों, बीबी-बच्चे वालो अब तुम चैन से इस नामर्द की बोली लगाओ। ले जाओ इसे कोठे पर। कोठे के कीड़े को कोठे पर ही सड़ने दो। और अपनी बहुओं-बेटियों को अपने घर ले आओ।"

और ब्याहता तीर की तरह घर से बाहर निकल गई।

•

32

संदूकची

पुरानी बात है, एक, दो, तीन, चार चवन्नियाँ उसके पास हर रोज़ जमा हो जाया करती थी, लेकिन बदले में उसे चार साड़ियों पर फ़ॉल लगानी होती थी। यानी, पाँच गज़ कपड़े पर कच्चा थोपा, और सवा गज़ कपड़े पर कच्चा थोपा, और सवा गज़ पर उलेडी थोपा। उसके लिए साड़ियों पर फ़ॉल लगाना बहुत जरूरी था। एक चवन्नी का आधा सेर दूध दोनों बच्चों के लिए, एक चवन्नी का राशन-पानी जिसमें वह खुद भी शामिल हो जाया करती थी। और दो चवन्नियाँ वह ताले लगे संदूकची में डाल देती। और वही चवन्नियाँ बीमारी-हारी में, और कपड़े लत्ते की ख़रीद फ़रोख्त में काम आती। कभी-कभार उसे चादर काढ़ने के लिए भी मिल जाती। सिंधी कढ़ाई के सोलह बूटे काढ़ती और उसे एक रुपया एक बूटे का मिल जाता। तब तो उसकी लॉटरी खुल जाती। आठ रुपये में वह अपने लिए शलवार कुर्त्ता ख़रीदती और आठ रुपये में दोनों बच्चों के दो जोड़ी। उसके घर में बिजली नहीं थी? कभी वह सड़क पर लगे लट्टू की रोशनी में कशीदाकारी करती और कभी छत पर फैली चाँदनी रात में बैठकर।

वक़्त बदला कभी किसी सीढ़ी पर बैठकर, तो कभी किसी सीढ़ी पर बैठकर वह कुछ पढ़ती रहती। इम्तहान देने के बदले में उसे एक सार्टिफिकेट मिल जाता। वह किसी सरकारी स्कूल में इम्तहान के दिनों में इनविज़ीलेशन ड्यूटी करती, और हर रोज़ के उसे पाँच रुपये मिल जाते। एक रुपये में बस का किराया और चाय पानी, और बाक़ी चार रुपयों में से दो रुपये बच्चों के नाम डाल देती, और दो रुपये संदूकची के दिल में। फिर वक़्त बदला। वह अख़बारों के लिए लिखती। जितना पैसा मिलता उसका आधा पैसा बच्चों के नाम, और आधा व संदूकची के साथ मिल बांटकर खाती। फिर वक़्त बदला।

उसे एक बहुत बड़ी-सी नौकरी मिल गई। आधा बच्चों की पढ़ाई के नाम पर और आधा संदूकची के नाम। वह सलीक़ा पसंद थी। उसके संगी-साथी उसके मीठे बोल पर वारे-वारे जाते। और वह अपनी संदूकची में डूबी रहती। कभी वह चवन्नियां गिनती, कभी अठन्नियां, और कभी रुपये। उसे पता ही नहीं चला कि लम्हा-लम्हा कब ढेरों साल बन गए और कब ढेरों सालों पर वक़्त की चादर बिछती या उड़ती रही।

वह सोचती बच्चों की शादी करेगी, बहुएँ आएंगीं, कोई उसे खाना पकाकर खिलाएगी। और कोई उसके थके पाँव की उगलियों पर मालिश करेगी। ऐसा कुछ भी नहीं हुआ था।

उसे सिर्फ़ इतना याद है कि संदूकचियाँ की हथेलियों को उसने जो कुछ भी सौंपा था, वो उन हथेलियों ने ईमानदारी से उसे सब कुछ लौटा दिया था। उसने कुछ साड़ियाँ ख़रीदी थीं, कुछ ज़ेवर बनवाए थे। तरह-तरह के ज़ेवर। उसे ये भी याद है कि शहनाईयाँ बजी थीं, और चार नए पैर उसके घर में आ गए थे। उसे ये भी याद है कि हर श्रृंगार की खुशबू में एक कसैलापन आ गया। गीता के अठारवें अध्याय की तरह उसके घर में कुछ लोगों का हर रोज़ सुबह शाम पाठ हुआ करता। और वह पाठ इस तरह का होता; "माँ, तुम्हारा बड़ा बेटा कितने साल का होगा?" "पच्चीस का।" वह जवाब देती। "और उसे नौकरी करते कितने साल हो गए?" "यही कोई तीन बरस।" "तब तो तुम्हारे बेटे ने तुम्हें बहुत पैसा दिया होगा।" "और शादी में कितना शगुन आया होगा?" "यही कोई पांच एक हज़ार।" उसका जवाब होता। "माँ, और तुम्हारा छोटा बेटा किंतने बरस का होगा?" "यही कोई तेइस का।" इससे पहले की और कोई स्वर सुनाई पड़ता वह कह उठती, कि उसकी नौकरी लगे अभी तीन ही महीने हुए हैं। फिर उसे कुछ सुनाई पड़ता, "बेटे की सारी कमाई तुमने हज़म कर ली।" उसके पास चुप रहने के सिवा और कोई चारा नहीं होता।

चार बरस बाद एक बाल शिशु ने उस घर में जन्म लिया। डॉक्टर साहिबा ने शिशु के साथ बतियाते हुए कहा था, "अरे प्यारे से मुन्ने! बिल्कुल अपनी दादी पर गया है। दादी की तरह नाम कमाना।" इससे पहले की वह उसे अपनी बाँहों में लेती, "लाओ माँ, इसे सबसे पहले मैं उठाऊँगी। इस पर मेरा हक़ है। तुमने अपने बेटों को बाँहों में खूब भरा होगा।" और वह अपने घर चली आई थी। दूसरे दिन सुबह जब अस्पताल पहुँची तो एक स्वर सुनाई दिया, "बहनजी, आपको नौकरी करते कितने बरस हो गए?" "तीस बरस।" उसने कहा। "तब तो आपके पास बहुत पैसा होगा?" थोड़ी देर बाद एक और स्वर उठा, "अरे बेटे, बच्चे को संभाल कर पालना। किसी के सामने दूध मत

पिलाना। नज़र लग जाएगी।" उसने देखा, उसके दोनों बेटे और उनकी पत्नियाँ सब मिलकर मुस्करा रहे थे। वह फिर घर की ओर लौट आई थी।

उसने अपने घर की एक-एक खिड़की, एक-एक दरवाज़ा, एक-एक दीवार, एक-एक बर्तन को कई-कई बार छूकर देखा। और कई जगह टेलीफ़ोन किए। उससे मिलने के लिए कुछ लोग आते रहे। चार दिन बाद जब बेटे-बहुएँ अस्पताल से लौटे, तो उन्होंने देखा कि एक दरबान गेट पर बैठा है। जब वे अन्दर जाने को हुए तो दरबान ने उन्हें रोका, और कहा, "साहब अन्दर हैं। अभी बुलाता हूँ।" सबने प्रश्नसूचक दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखा। अन्दर से एक साहब बाहर निकले और उन्होंने कहा, कि "डॉक्टर साहब यह बंगला हमें बेचकर कहीं चली गई हैं। और ये संदूकची वे आपके लिए छोड़ गई हैं।" जब उन्होंने संदूकची खोली तो वह बिल्कुल ख़ाली थी।

33

यह नन्हे दोस्त

मेरा घर तरह-तरह के पेड़ों से घिरा हुआ है—आम, जामुन, नींबू, सागवान, अशोक, हरसिंगार, अमलतास और गुलमोहर। ये सभी बहुत छोटे थे जब इन सबको मैं अपने यहां ले आई थी। तब ऐसा लगता था कि जैसे कोई दुधिया हंसी बिखेर रहा हो। बीस बरस बाद भी मुझे ऐसा लगता है जैसे कोई बच्चा आती-जाती अपनी माँ का आंचल पकड़ कर कह रहा हो "मुझे भी साथ ले चलो।" सुबह सवेरे जब सूरज की पहली किरण उनका स्पर्श करती है तो मैं भी इनके तनों को छू-छू कर देखती हूं और उनकी छाया तले गमलों में सिमटे पौधों को भी, बहुत खुश मिजाज हैं ये। झूमते-झामते कई परिंदों को अपने पास बुला लेते हैं और परिंदे हैं कि एक डाल से लेकर दूसरी डाल तक फुदकते रहते हैं। थोड़ी देर के लिए जब इनका फुदकना बंद हो जाता है तो कभी मेरी रसोई तो कभी मेरी हर खिड़की पर बोलना बतियाना शुरू कर देती है। मुझे ऐसा लगता है जैसे ये सब मुझसे पूछ रहे हों—"माँ तुमने खाना खाया?" "तुमने पानी पिया?" "तुम थक गई हो थोड़ा आराम कर लो।" मैं समझ नहीं पाती कि इन्हें कैसे पता चल जाता है कि मैं इस कमरे में हूं। लेकिन ये सभी धुग्धियां लाते। मैना और कौवा बारी-बारी से मेरा हाल जानने के लिए चले आते। इनका मन होता है तो कमरे के भीतर भी चले आते हैं। बहुत प्यारे नन्हे से दोस्त हैं। ये मेरे इंसानों की तरह 'लाजवाब' नहीं हैं, जो काम निकाला पीठ में छुरा घोंपा और चल दिए। पता नहीं चलता कि छुरा किसने घोंपा है। इन परिंदों के लिए मैंने कभी कुछ नहीं किया सिवाय दाना-पानी देने के। इतने वफादार हैं कि बाजरे के दाने की एक-एक कीमत चुकाते रहते हैं। मुझे लगता है कि क्या मैं इनके प्यार का बदला चुका पाऊँगी? शायद नहीं। बहुत प्यार करते हैं वो मुझे। मेरे तन-मन के हर मौसम

में मेरा हर साथ निभाते हैं हंसते-गाते हैं और लोरी गा-गाकर मेरी थकान मिटाते हैं। कितने स्वभाविक बोल होते हैं इनके बनावटीपन का कहीं कोई नामोनिशान नहीं दबे-पांव फुदक-फुदक आते और पेड़ों की डाल-डाल में छिप-छिपकर रात गुजारते हैं। मैं उस गिलहरी को क्या कहूं जो चारपाई पर पड़े तकिये में से रूई निकाल-निकाल कर पपीते की डाल पर उसे गद्दे-सा बिछाकर लेटी रहती है। जब भी में चारपाई पर बैठती हूं वह तुरंत आ धमकती है। मैं उससे पूछती हूं "आ गई तू" और वह अपने दोनों हाथों में रूई थामे पपीते के पेड़ पर जा बैठती है। क्या आप के पास भी ऐसे दोस्त हैं?

34

भाभी

उन्हें सभी भाभी कहते। बारह साल की उम्र में ही जब वो बहू बनकर उस घर में आई थी, उसे यह ओहदा दे दिया गया था। घर के लोग, पड़ोस के लोग, सभी उस बालिका वधू को भाभी कहते। तब उसे यह भी पता नहीं था कि गृहस्थी क्या होती है? वह पास-पड़ोस के किशोर-किशोरियों के साथ खेत के किनारे लगे पेड़ों पर से आमियाँ उतारती और खाती, कभी बेरियाँ तोड़ती, कभी खजूरों को आंचल में भरती, कभी निमूलियाँ खाती और कभी सटाकू-सटाकू खेलती। अम्मा जी को उससे बेहद शिकायत थी। बाबूजी कहते "अरी छोड़ो भाग्यवान, अभी उम्र ही क्या है, सिर पर पड़ेगी तो सब कुछ समझ जाएगी।" वो अभी ऐसे ही जैसे खेल की दुनियाँ से ब्राहर निकली उसने गृहस्थी संभाल ली। सुबह से शाम तक कोल्हू के बैल की तरह जुती रहती। सुबह उठते ही गाय- भैंस का चारा करती। नाश्ता-पानी करती। खाना पकाती। कभी दसूती और कभी क़श्मीरी कढ़ाई करती तो कभी स्वेटर बुनती। कभी पापड़, बड़ियाँ और अचार बनाती। साँझ को दीया बाती करती। फ़िर सबका खाना-पानी बनाती। इसी कार्यक्रम में वह लगी रहती।

पचास बरस हो गये थे। ननदों, देवरानियों और अपने बच्चों का बोझ उठाते-उठाते अब उसकी काया शिथिल हो चुकी थी। कितना अच्छा होता जो कोई उसके हाथों में चाय का गिलास थमा देता। अब उसे आँखों से भी कम दिखाई देने लगा था। सुई में धागा पिरोने के लिए वह आवाज लगाती रहती—"अरी बोंबों, अरे पप्पू, अरे गोलू, अरे गुड्डु जरा सुई में धागा तो दो ना।" पर सभी एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देते। फिर वो मुझे आवाज़ लगातीं—"अरे टिंड्डु की माँ तुम्हीं सुई में धागा दे दो ना। ये नाशपिटे तो क़ाम ना करेंगे।" "क्या फट गया भाभी, दिखाओ तो।" कपड़ों का गट्ठर

मेरे सामने रख देती और मैं सिलाई की मशीन से सभी उघड़नों को सिल देती और मैं उनकी दी हुई दुआओं को समेटती। कहने का मतलब ये कि भाभी ने वह घर बदलने की ठान ली थी। एक दिन की बात है। वह मेरे पास आकर बोली–"टिंडु की माँ! क्या तुम ये अपना पलंग मुझे दोगी? जितना पैसा बोलोगी रे दूँगी।" "हाँ-हाँ, क्यों नहीं। पैसे की क्या बात है।" उसके बाद वह सुबह को जाकर शाम को लौटती। मैंने सोचा, 'जाती होंगी किसी काम से।' एक दिन वो धम-धम करती आई और कहने लगीं, "कहाँ हो भई! मैंने दो सौ गज़ का एक प्लॉट ले लिया है। अच्छा किया ना?" उनकी आँखें चमक उठी थी। "अच्छा क्या, तुमने बहुत अच्छा किया भाभी।" "दो रुपये गज़, कुल जमा चार सौ रुपये। दो रुपये गज़ तो लट्ठा भी नहीं मिलता। अब बीस रुपये और लगेंगे, रजिस्टरी के। वो तुम मुझे दे दो। मैं पैसा-पैसा लौटा दूँगी।" "लो भाभी। तुम भी क्या याद रखोगी।" मैंने बीस रुपये उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा। वह फिर कहने लगीं, "हो तो तुम बेवकूफ़ वैसे पढ़ी-लिखी, पर वैसे अक्ल की अंधी। तुम दो सौ रुपये की साड़ी ख़रीदती हो और मैंने ज़मीन ख़रीद ली।" दो-चार महीने फिर उनका कोई अता-पता नहीं चला। उसने उसी प्लॉट पर जैसे-तैसे चार कमरे डाल लिये थे। गृह-प्रवेश करने के बाद उसने मुझसे कहा–"दो प्लॉट तुम भी ले लो। वैसे पप्पू, काका, भोलू सभी यही कहते हैं कि आ जाती है। मैंने उन्हें झापड़ रसीद करते हुए कहा–'अरे उल्लू के पट्ठों। तेल है तो अच्छा है ना। जब निकलेगा तब सब्ज़ी बना लिया करेंगे। जहाँ तक बाढ़ का सवाल है। जहाँ सब डूबेंगे, वहाँ मैं भी डूब जाऊँ। कम से कम तुम सब लोगों को सुई में धागा देने के लिए तो नहीं कहना पड़ेगा।'"

इसी तरह मेरे अलावा भाभी ने अपने भाईयों-भतीजों, सबसे वहां ज़मीन ख़रीदवाई। जब भाव बढ़े तो ऊंचे मोल बेचकर उसने एक आलीशान बंगला बनवाया। उनके साथ ही उनके संगी-साथियों ने भी बनवाये। दाल बघारने वाली भाभी में इतनी हिम्मत कहां से आ गई कि अकेले ही जमीन का मोल-भाव करते-करते वह चाँदी के बँगले में जा बैठी। वह अक्सर मुझसे कहा करती कि तुम कलम घिसती रहना और कुछ मत करना।

बाद में भाभी ने बताया कि उसने एक ट्रस्ट बनाया है जिसकी आमदनी से वह मेरे जैसे 'बेवकूफ़' कलम घिसने वालों को ईनाम देगी, जिससे वे लोग अपने बेटे-बेटियों को ठीक से पढ़ा सकें। वह अड़ी रही और कहती रही कि ईनाम का नाम मैं तुम्हारे नाम पर रखूँगी। वह दिन और आज का दिन भाभी 14 लेखकों को पुरस्कृत कर चुकी हैं। वह बहुत आदर से मुझे मंच तक ले जातीं, और उनकी आँखें ख़ुशी से चमक उठती। वही आँखें जो कभी सुई में धागा तक नहीं पो पाती थीं।

35

निम्मो

रात के दो बज गए। वह लगातार करवट पर करवट बदलती जा रही है। उसे ए.सी. और डनलप का गद्दा भी राहत नहीं पहुँचा रहा था। नींद थी कि आने का नाम ही नहीं ले रही थी। आधी रात के समय वह अपनी ज़िन्दगी की किताब में डूबती चली जा रही थी। डॉक्टरों ने उसे पूरी तरह आराम करने को कहा था।

पाठकों की सुविधा के लिए मैं उसका नाम निम्मो रख लेती हूं। निम्मो ने वज़ीफ़ा ले-लेकर पढ़ाई की थी। वैसे उसके माँ-बाप की तिजोरियां भी अशर्फ़ियों से भरी रहती। कहते हैं, कि उसका ब्याह एक धन्ना सेठ के साथ हुआ था। वक़्त का चक्र ऐसा चला कि सोने का मुकुट पहनने वाला सेठ औंधे मुंह ज़मीन पर आ गिरा था। उसके गिरते ही निम्मो भी अपने मायके में औंधे मुँह आ गिरी थी। जब-जब भी वो मायके जाती, कुछ आवाजें उसके कानों को हमेशा बेंध दिया करती। 'निम्मो को आइसक्रीम खिलवाओ। पता नहीं कब से बेचारी ने आइसक्रीम नहीं चखी होगी।' 'निम्मो के लिए बढ़िया साड़ी लाना।' 'निम्मो को घुमाने ले जाना। पता नहीं बेचारी कब जा पाएगी।' वगैरह-वगैरह।

निम्मो ने उसके बाद मायके का दरवाज़ा नहीं खटखटाया लेकिन वह मेरे पास आकर बोली—"मौसी! मैंने एक संस्थान बनाया है। तुम उसकी मेम्बर बन जाओ।" "मुझे क्या करना होगा बेटी, बोल तो।" "कुछ ख़ास नहीं। तुम्हें सिर्फ़ इतना करना होगा कि हर रोज़ एक रुपया मेरे नाम का निकालना होगा। मेरा आदमी आकर तुमसे ले जाएगा।" "इसमें कौन-सी बड़ी बात है?, तू कहे तो सौ रुपया रोज़ दे दूँ।" "नहीं मौसी! आटे में इतना ही नमक डालना चाहिए जितना खप सके।" निम्मो ने ढेर सारे मेम्बर बनाए। उसके दो लाख मेम्बर बन

गए। फिर दो, फिर तीन, फिर पांच। महीने के एक सौ पचास लाख रुपये। उसने बहुत सारी ज़मीन ख़रीदी। लगता था कि वह धरती नाप डालेगी। जितने लाख रुपये उतने लाख पेड़ लगाए। अस्पताल खोला, कॉलेज खोले, लोगों को रोज़गार दिया। उसके यहाँ जाती तो लगता किसी देवलोक में पहुँच गए हैं। चंदन, गुलाब, मूंगा, केसर, सुपारी, लौंग, इलायची, सभी कुछ उस ज़मीन पर था। उसकी फोटो अखबारों में छपने लगी। हर प्रदेश ने उसे सम्मानित किया, जैसी उसका भीतर छलनी बना रहा। "तुम्हारे पास इतनी ऊर्जा कहां से आई री निम्मो।" "उसी 'बेचारी' शब्द से।" एक आइसक्रीम खाने के लिए जिसकी आँखें तर हो जाया करती थीं। वह हर रोज़ दस हज़ार आइसक्रीम बच्चों को खिलाती है। अपने मेम्बरों को विदेश ले जाती है। शादी ब्याह में जी भरकर साड़ियाँ लुटाती है, लेकिन उसे चैन नहीं है। हर रात जब वह बिस्तर पर जाती है, तो बेचारी शब्द शूल की तरह उसके दिल में बैठ जाता है। और उसके दिल से लहू का दरिया बहने लगता है।

36

सुगन्ध

वह एक अनोखा विवाह था। हमारे जैसे दस–बीस लोगों को छोड़कर सभी बाराती घराती मूक बधिर थे। टेन्ट वालों, बिजली वालों, कैमरा–वीडियो वालों और खाना बनाने वालों से लेकर परोसने वालों तक।

युकलिप्टस, से घिरे जगमगाते मैदान की शांति की शहनाई–वादन और हमारी अनुशासित हँसी भंग कर रही थी। सभी अपनी उंगलियों, हथेलियों, नेत्रों, होठों की संकेती भाषा से प्यार–मनुहार के अथाह सागर में डूब तिर रहे थे और हम जैसे लोग खुद को उपेक्षित महसूस कर रहे थे।

सप्तपदी शुरू हो चुकी थी और मैं आराम से कुर्सी पर पीठ टिकाये बैठी थी। मेरे सामने पिछले वर्षों के सैकड़ों पन्ने फड़फड़ाने लगे थे। मेरी चचेरी बहन के बेटे का ब्याह था और उन्होंने अपने सुदर्शन पुत्र के लिए मूक कन्या को वधू रूप में स्वीकारा था। मुझे कुछ खास हैरानी नहीं हुई थी क्योंकि वह खुद मूक बधिर थी। बरसों पहले चाचा के आँगन में पहली कन्या का जन्म हुआ था तो उन्होंने बहुत खुशियाँ मनायी थी। गाँव भर को न्यौता, शुद्ध घी के मोतीचूरी लड्डू बाँट उसे मत्स्यगंधा नाम दे दिया था। उनका आँगन हमेशा चाँद सूरज की उजास से भरा रहता।

घुटने–घुटने चलने पर मालूम हुआ कि कन्या गूंगी–बहरी है। पूरा गाँव शोक–सागर में डूब गया था। और चाचा की उदासी का तो ठिकाना ही नहीं था। एक तो कन्या जात और उस पर गूंगी–बहरी। एक के बाद एक दो कन्याएँ और भी अवतरित हुईं पर वे भी गूंगी बहरी। और चाचा जाहि विधि राखे ताहि विधि रहने लगे थे।

मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि कब से मत्स्यगंधा को माछो पुकारा जाने लगा था। उसकी बाहों पर पालने में झूलती पटोलों वाली गुड़िया,

छन-छन करती पैंजनी, सीटी बजाता बन्दर सभी किसी घुप्प अंधेरे में अन्तर्ध्यान कर दिये गये थे। उस मासूम को तो यह भी मालूम नहीं था कि बोलना सुनना क्या होता है। जब अपनी असलियत मालूम चली तो वह कभी टुकर-टुकर चाँद सितारे ताकती और कभी धरती लीप कर अपनी उंगलियों से अपने मन की तस्वीरें उतारती। वह तो किसी को देखती भी नहीं थी। कभी-कभार मुझसे लिपट-लिपट मेरे कंधे भिगो दिया करती और मैं काँपते हाथों से उसे सहला दिया करती।

जब उसके तन-मन में किशोरावस्था ने प्रवेश किया तो उसकी आँखें हौले-हौले मुंदने लगतीं, होठ फड़फड़ाने लगते और पैर थिरकने लगते। कई जोड़ी आँखों से लुक-छिप कर माथे पर आँचल सरका वह 'आँ आँ' गुनगुनाने लगती। जैसे उसके सपनों का राजकुमार उसे किसी खूबसूरत उड़न-खटोले पर बिठा सोने चांदी के देश लिये चला जा रहा हो।

इधर रोजी-रोटी की तलाश में मैं धरती के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक मारी-मारी फिरती रही और उधर किसी नेक सलाह पर माछो को मूक बधिरों के स्कूल में दाखिल करा दिया गया। वक्त पंख लगे बादलों के आर-पार उड़ता रहा। मैं अपने दो जून रोटी जुगाड़ सकी और माछो प्यार की प्यारी-सी दुनिया में खो गयी। उसकी मुस्कराती सौम्यता और झील-सी गहरी निगाहों में एक उच्चपदासीन युवक इस कदर डूब गया कि वह उससे ब्याह करके ही माना।

माछो सुन बोल नहीं सकती थी पर देख सकती थी। अपने तन-मन की आँखों से वह चेहरे पढ़ती, पास-परिवार का छल-कपट देखती। हर तरह की दया-दुत्कार सहने वाली माछो अपने पति की बाहों में झूलती रहती। परिणीत-परिणीता दोनों ही प्यार की डोरी का एक-एक सिरा थामे रहते। न कोई ऊँचा बोलता और न कोई ऊँचा सुन सकता। एक की कमाई दूसरे की हथेली पर जमी रहती और दूसरे की हथेली श्रीमयी बनी रहती। प्रेम-चाहत पर टिकी उनकी गृहस्थी मायके ससुराल की पकड़ से बहुत दूर थी।

उनके साथ मूक बधिरों का अनन्त संसार चलता रहता जिसमें कभी-कभार मैं शामिल हो जाया करती। हर तरह के अहंकार से दूर उनके होठों के सरल सहज कम्पन मात्र से चेहरे कभी फूल से खिल उठते और कभी गम के दरिया में डूब जाते, खाने के बाद वे मुझसे कविता सुनते। मेरे हाव-भाव और गहरी आँखों के दर्द से विचलित हो ताली बजाना भूल वे मेरे इर्द-गिर्द जमा हो जाते और मैं ईमानदार श्रोताओं में खो जाती।

इस बीच मैं सात समुन्दर पार चली गयी और मत्स्यगन्धा मातृत्व की ओर। और अब मैं उसके बेटे के ब्याह पर चली आयी थी।

मैं न जाने कब तक माछो की दुनिया में खोयी रहती यदि मेरे पाँव किसी गंगा-यमुना से भीग न गये होते। पुत्र-वधू मेरे चरण पकड़े थी और माछो मुझे आशीर्वाद करने के लिए बाध्य कर रही थी। मैं इतना ही कह सकी थी–

जो मैं देख सकती हूँ
उसे समझ नहीं सकती
जो मैं समझ सकती हूँ
वे मेरी आँखों से दूर
बहुत दूर है।

मेरे होंठ-कम्पन को एकटक पढ़ता वह दर्द दृष्टि वाला संसार गंगा-यमुना में डुबकी लगा रहा था। वहाँ शिकवा-शिकायत, स्वार्थ-परमार्थ, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं था। यदि था तो प्यार का उमड़ता दरिया जिसने मेरे तन-मन को शीतल कर दिया था।

मुझे लगा कि शायद कोई राजकुमार मेरे पापों-पुण्यों का हरण कर, रोजी-रोटी की खुरदरी जमीन से ऊपर उठा कर मुझे आसमान की ओर ले जा रहा है, मेरी तपती दुपहरी को अपने साये में समेट रहा है और मेरा आस-पास मौन-मय ध्यानमय हो गया है।

37

रेत का टीला

बात पुरानी है पर इतनी ही जब बिजली के नाम पर सरसों के कड़वे-मीठे तेल का दीपक और रेलगाड़ी के नाम पर इक्के-दुक्के माल डिब्बे ढोता छक्-छक् इंजन।

मुलतान की तरफ रेत के टीले पर बसा एक छोटा-सा गाँव, नाम कोट-अद्दा, घास-फूस से ढके गोबर मिट्टी से लिपे-पुते घरनुमा छोटे-बड़े झोपड़ों के बीच कच्ची-पक्की ईंटों से चुनाया एक बड़ा-सा घर जहाँ से चरखा-चक्की तथा कीर्तन की आवाज सुनायी पड़ती रहती है।

घर की मालकिन है दादी माँ। आधी रात बीतते-ही-बीतते मुट्ठी-मुट्ठी अनाज पीसती चक्की की घर्र-घर्र गाँव भर को जगा दिया करती है। भोर का तारा दिखते-ही दिखते आँगन की लीपा-पोती और तुलसी-पूजा खत्म। सूरज की पहली किरण के साथ ही बच्चों की टोली-टोली हाथों में छाछ का सकोरा और बासी रोटी।

उपले थामने रोटी सेंकने के तुरंत बाद चरखे की गूंज। कई बीसी पूनियों से महीन-महीन सूत निकालते-निकालते जब वह थक जाती है तब सुस्ताने के बहाने किस्सा-कहानी का पिटारा खोल बैठ जाया करती है।

दुपहरी ढलते-न-ढलते दादी माँ का शंख बज उठता और शंख बजते-न-बजते हिमती की नानी, निहाले की दादी, दीनू की मौसी सुथरो की फूफी, फनियाँ की मामी और मंधो की चाची के पैर रेत का दरिया तैरते-तैरते दादी माँ की चौखट पर। चौखट लगते ही दादी माँ की उंगलियाँ पोथी के पन्नों पर और आवाज आँगन कोने।

धर्म-कर्म का क्या काम? वह यहाँ नहीं है। उस पार है रामजी के पास। यदि इस पार होता तो रेत का यह टीला आटे का टीला होता और मर पडोपी

(पसेरी) आटे से रोट सेक लिये जाते। रोज-रोज की चक्की से छुटकारा मिलता। न जाने उस सेबी की माँ को क्या सूझा कि आटे का दरिया देखते ही उसके हाथों ने दो पडोपियाँ भर ली। पडोपी भरने की देर थी चारों ओर रेत ही रेत।

एक बार नहीं दो बार चार बार दस बार बार-बार उलटा पलटा। पर होना जाना क्या था? न जरूरत से ज्यादा बटोरा जाता न गाँव-का-गाँव मुँह अंधेरे चक्की में जुटता।

यह दादी माँ का आँगन कोई स्कूल मदरसा थोड़ी था कि मास्टर उस्ताद के ऊंघते ही शागिर्दों की टोलियाँ नदारद हो जाती। जितनी तन्मयता से किस्से कहानी का पिटारा खुलता उतनी तन्मयता से कई जोड़ी आँखें उसमें डूब जाती। सरस्वती को निहारती लक्ष्मी मैय्या।

कौवा-चिड़िया, तोता-मैना, पठार-मैदान, गीता-रामायण के किस्से उनकी उंगलियों को मुँह-जबानी याद थे।

"एक चिड़िया आयी और दाना लेकर फुर्र हो गयी। फिर दूसरी चिड़िया आयी वह भी दाना लेकर फुर्र हो गयी। इस तरह तीन चार पांच छः चिड़िया आती गयीं और दाना लेकर फुर्र होती गयीं।"

हूँ। यह भी कोई कहानी बनी कि चिड़िया आयी भी, फुर्र भी हुई वह भी दाना लेकर। ले जाने दो। एक ही तो दाना है। पर दादी माँ की कौन कहे? झट से कह देंगी यदि इसी तरह दाना-दाना फुर्र होता रहा तो मैदान के मैदान खाली हो जाएँगे।

"नहीं" चाहिए हमें यह खाली-खाली मैदान। बादल-धरती भरे-भरे रहें। हम किसी को भी दाना लेकर फुर्र नहीं होने देंगे। तुम कहती चली जाओ, हम सुनते चले जाएँगे, लय में दाना-दाना बीनते चले जाएँगे।

"तो सुनो किस्सा तोता-मैना का", दादी माँ चटाई पर जमते हुए बोली। "पेड़ की एक डाल पर तोता-मैना पंख फैलाये, पंख सिकोड़े मज़े-मज़े रहा करते। खाने की तलाश में तोता मीलों-मीलों उड़ता रहता। सांझ ढले चोंच पर कच्चे-पक्के फलों की जूठन चुपड़े लौट आता। उचक कर कहता "आज तो कुछ हाथ नहीं लगा।" सुनते-सुनते मैना के कान पक गये।

भला कब तक पेट पर पट्टी बांधी जा सकती थी। काम-धाम, गाना-लोरी, लालन-पालन भूल वह भी उड़ान भरने लगी। भोर को जाती, सांझ को लद-लद कर लौट आती। पर एक दिन वह नहीं लौटी। दिन-पर-दिन, रात पर रात तोता इंतजार करता रहा और करता ही रहा। उसका छल-प्रपंच, खाना-पीना, बोलना-बतियाना सब कुछ बिखर गया। न मैना लौटी न तोता

बोला। बोला तो सिर्फ राम-राम—वह दिन और आज का दिन। तोते की रटंत सिर्फ राम-राम।

वह कौआ था न। मुंडेर पर बैठकर जब-तब काँव-काँव किया करता। उसके नाम की सिकी रोटी उसे चुगा दी जाती पर वह काँव-काँव से बाज़ न आता। लाख मिन्नत खुशामद होती कि पिया का संदेसा लेकर आये तो सोने में चोंच मढ़ा दी जाए और कटोरा भर-भर खीर खिलायी जाए। पर उसे क्या सोने मढ़ी चोंच और कटोरा भरी खीर से। उसे तो बस एक काम—काँव-काँव।

आज दादी माँ की उंगलियाँ पोथी के पन्नों पर नहीं वक्त के पन्नों पर हैं। पता नहीं चला पन्ने-दर-पन्ने फड़फड़ाते हुए आँखों से कब ओझल हो गये। एक-एक करके दिन हफ्ते, महीने बरस आकर लौट भी गये पर वे नहीं लौटे। कहीं कुछ नहीं। इस तट पर न माँ-जाया उस तट पर न पेट-जाया।

शायद उसके जन्म पर बताशे भरे दोने नहीं बांटे होंगे।

कोने-कोने गूंजने वाली आवाज सिमटी-सिमटी, सहमी-सहमी। कई जोड़ी सीपियों में मोती-मोती।

रेत के टीले पर बना-बसा दादी-माँ का घर आज भी गुज़रती पीढ़ियों का साक्षी है। पर वह अब घर नहीं सरकारी दफ्तर है। दिन भर, जहाँ समझ में न आने वाली बातों का सिलसिला जारी रहता है। सरसों भरा दीपक नहीं, चौंधियाते चमचमाते लट्टुओं के साये में किस्सा कहानी कहने सुनने का वक्त किसी के पास नहीं है।

क्योंकि रेत के उस टीले पर अब पक्की सड़क बिछ गयी है।

38

ऐसा ही है

अकेलेपन के सतरंगी लिबास में लिपटी पल्लवी ने न कभी बड़की, मंझली को बहनों के रूप में स्वीकारा और न कभी मुन्ना-राजा को भैय्या के रुप में। उसे न ननिहाल बांध पाया और न मायका-ससुराल। कारण यह कि वह हर हवेली के उतार-चढ़ावों को सिर्फ देखती रही, न किसी में भीगी और न किसी से बिना भीगे निकली।

इसमें कोई शक नहीं कि मुन्ना-राजा की तरह तीनों बहनें भी एक ही माँ उदर से जन्मीं, पलीं-बढ़ीं और पोसी-दुलारी गयी थीं। आंगन में सबके लिए एक से चांदी के पेड़ों पर सोने के फूल खिले थे, यदि होता तो आसमान से सितारे भी उतार लिये जाते।

पर पल्लवी थी कि 'हरा समुन्दर गोपी चंदर बोल मेरी मछली कितना पानी' कहते-कहते अपनी धोती को कमर में इस तरह खोंस लेती कि रेत के दरिया में चलते-तैरते कभी उसके घुटने और कभी टखने दिखाई देते। पता नहीं किसके हिस्से कितना पानी आया पर पल्लवी की आँखों के हिस्से में इतना बड़ा दरिया आ गया कि जो कभी खत्म नहीं होता।

सोने के फूलों की जगह उसे चंदन के फूल ही महका देते और उनमें लिपटे सांपों को वह भूल जाती, क्योंकि उसके मन की महक चंदन की महक से ज़्यादा वज़नी थी।

बांहों के पालने में वह अभी गुड़िया को झुला-सुला ही रही थी कि बड़की ससुराल चली गयी थी। गुड़िया का ब्याह रचाते-न-रचाते मंझली भी बाबुल का घर छोड़ चुकी थी। जब उसके मीठे सपनों की बारी आयी तो मुन्ना-राजा भी अपने लिए एक चांदनी ले आया था।

उसे बहुत जल्दी मालूम हो गया था कि बहनों की तरह वह भी कभी-कभार इस घर में मेहमानें की तरह आया-जाया करेगी और मेहमानों की जगह सिर्फ़ बैठकखानों में होती है, कि स्वागत के साथ ही जिनकी विदाई की तैयारी शुरू हो जाती है।

जितनी ही भुलक्कड़ हो पल्लवी, उसे बखूबी याद है स्वर्णाभूषणों से चमचमाते थालों, मेवे की परातों, फलों के टोकरों और मिठाई के डिब्बों को। जिनके साथ जुड़ी थी बापू की थपथपाहट, माँ के आँसू, भैय्या की गलबइयाँ, छोटों का पाँव लागन, बड़ों का आशीष और नौकरों की हथजोड़। सब कुछ बड़की की विदा के लिए था। इस सबके साथ बड़की को लिवाने के लिए जहाज़ जैसी मोटर-गाड़ी आयी थी और दर्द भरी बड़की उसमें बैठकर चली गयी थी।

चार बरस बाद उस दिन फिर एक जमावड़ा लगा था। आभूषण, साड़ियों, फल, मेवे मिठाइयों, आशीर्वादों, अश्रुपातों और पायलागनों का। एक बार फिर जहाज़ जैसी मोटर गाड़ी हवेली के बाहर खड़ी थी। पर इस बार की विदाई मंझली के लिए थी। पता नहीं क्या हुआ था कि बड़की के 'वे' अपना सब कुछ हार चुके थे। हवेली-गाड़ी गिरवी, माल-असबाब जुए-सट्टे, खेत-खलिहान दूसरों के हिस्से। ढोर-डंगर बोली-पर-बोली।

मुन्ना राजा के ब्याह पर, बड़की पंगत में बैठे मेहमानों को पत्तल परोस रही थी। और उनके वे पत्तल बटोर-फेंक रहे थे। विदाई के नाम पर सूखी मठरियों और लड्डुओं की दो-चार पोटलियाँ बांध दी गयी थीं। पता नहीं क्यों माँ भी पैसे वाले बच्चे को प्यार करती है। पल्लवी को लगा कि उस हवेली की चांदनी मैली हो गयी है।

बात यहाँ तक होती तो बात भी थी—बतंगड़ तब हुआ जब पल्लवी के ब्याह पर बड़की की तरह मंझली भी पत्तल परोस रही थी और उनके 'वे' पत्तल बटोर-फेंक रहे थे। फर्क सिर्फ इतना था कि बड़की की धोती कुछ ज्यादा चीकट ज्यादा पैबन्द लगी थी। एक की पोटली में कम सूखे लड्डू और दूसरी की पोटली में ज्यादा सूखे लड्डू मठरी बांध दी गयी थीं।

चुन्नू के मुंडन में तीनों बहनों को न्यौता गया था। इस बार बड़की मंझली की धोतियाँ बिना पैबन्द लगी साफ-सुथरी थीं, इसलिए उन्हें पत्तल परोसने का काम नहीं करना पड़ा। इससे पहले कि पल्लवी को पत्तल परोसनी पड़े, न केवल चमचमाते आंगन बल्कि कुल मर्यादा की हर दहलीज़ फलांग, वह सात-समुन्दर पार चली गयी थी रोज़ी-रोटी का जुगाड़ करने।

कहने की गुंजाइश नहीं है कि पल्लवी के आंगन में भी चांदी के पेड़ों पर सोने के फूल खिलते हैं। न उसे इस बात में खुशी है कि मुन्ना-राजा ने माँ के लिए सोने की सीढ़ी बनवा दी है और न उसे इस बात से गम है कि उसके भांजे-भांजियाँ अश्वत्थामा की तरह चावल का घोल पीते हैं। वह तो सिर्फ इतना जानती है कि उसके मन के आंगन में चांदी के पेड़ से नेह की डालियाँ लिपटी हैं। कभी वह यादों का झूला झूलती है, कभी बड़की-मंझली को पुचकारती और कभी अम्मा-बाबा के खनकते नेह को दुतकारती है क्योंकि उसने अकेलेपन का सतरंगी लिबास ओढ़ लिया है।

■■■

डॉ. राज बुद्धिराजा

जन्म—16 मार्च, 1937, लाहौर।

मातृभाषा—पंजाबी

शिक्षा—एम.ए. (हिन्दी), पुष्प सज्जा इकेबाना, पी–एच.डी.

भाषा ज्ञान—संस्कृत, हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, जर्मन, जापानी, अंग्रेजी।

शिक्षण—1967 से दिल्ली विश्वविद्यालय के कालिन्दी कॉलेज के अतिरिक्त तोक्यो, पेरिस, रोम और लंदन वि.वि. में पचास हजार विदेशियों को हिन्दी अध्यापन। वर्णमाला से लेकर स्नातकोत्तर तक तीन हजार से अधिक राजनयिकों को अध्यापन।

प्रकाशन—बयालिस पुस्तकों का प्रकाशन, जिनमें 'देव के काव्य में अभिव्यक्ति विधान', 'प्रश्नातीत', 'रेत का टीला', 'जापानी सीखें', 'जापानी हिन्दी शब्दकोश', 'दिल्ली : अतीत के झरोखे से', 'हाशिये पर', 'उत्तरोत्तर' , 'हरा समन्दर', 'बहुचर्चित'। तीन हजार आलेख, कविताएं विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित।

पुरस्कार-सम्मान—जापान सम्राट महामहिम अकिहितो द्वारा सर्वोच्च नागरिक सम्मान (दि ऑर्डर ऑफ द सेक्रेड ट्रइयर गोल्ड रेज़ विद नैक रिबन) से अलंकृत। साहित्यकार एवं कृति सम्मान (हिन्दी अकादमी, दिल्ली)। महिला शिरोमणि, रत्न शिरोमणि, भारतीय प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय एकता मीडिया अवॉर्ड और यू.जी.सी. के पोस्ट डॉक्टोरल रिचर्स फैलोशिप से सम्मान के अतिरिक्त कई अन्य राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय पुस्कारों से अलंकृत।

प्रशासनिक अनुभव—1972 से 1981 तक इंचार्ज नॉन कॉलेजिएट वुमन्स एजुकेशन बोर्ड, दिल्ली वि.वि.।

सम्प्रति—अध्यक्ष, भारतीय–जापान सांस्कृतिक परिषद, जी–233, प्रीत विहार, दिल्ली–110092

तेप्र
तेज प्रकाशन
23/4761, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली – 110 002
दूरभाष: 011–23258802, 22513959
फैक्स: 91–11–23258767
e-mail: genius_bisht@indiatimes.com
ISBN 81-901118-2-5
9 798190 111828